नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक

बिगुल

मासिक समाचारपत्र • पूर्णांक 141 • वर्ष 13 • अंक 4
मई 2010 • तीन रुपये • 12 पृष्ठ

मई दिवस का सन्देश

स्मृति से प्रेरणा लो! संकल्प को फौलाद बनाओ! संघर्ष को सही दिशा दो!

मज़दूर साथियो! नयी सदी में पूँजी के ख़िलाफ़ वर्ग युद्ध में फ़ैसलाकुन और मुकम्मल जीत के लिए आगे बढ़ो!!

सम्पादक मण्डल

आज घोषणा करने का दिन
हम भी हैं इंसान
हमें चाहिए बेहतर दुनिया
करते हैं ऐलान
घृणित दासता किसी रूप में
नहीं हमें स्वीकार
मुक्ति हमारा अमिट स्वप्न है
मुक्ति हमारा गान!

जब तक लोग कुछ सपनों और आदर्शों को लेकर लड़ते रहते हैं, किसी ठोस, न्यायपूर्ण मक़सद को लेकर लड़ते रहते हैं, तब तक अपनी शहादत की चमक से राह रोशन करने वाले पूर्वजों को याद करना उनके लिए रहम या रुटीन नहीं होता। यह एक ज़रूरी आपसी, साझा, याददिहानी का दिन होता है, इतिहास के पन्नों पर लिखी कुछ धुँधली इबारतों को पढ़कर उनमें से ज़रूरी बातों की नये पन्नों पर फिर से चटख रोशनाई से इन्दराज़ी का दिन होता है, अपने संकल्पों से फिर नया फौलाद ढालने का दिन होता है।

संस्कृत काव्यशास्त्र के रचयिताओं ने **स्मृति** (अतीत की जानकारी और समझ), **मति** (वर्तमान की समझ) और **प्रज्ञा** (भविष्य को आँकने–समझने की क्षमता) के आपसी रिश्तों की बात की है। जीवन और इतिहास में भी चेतना की इन तीन गतियों या ख़ास गुणों की बुनियादी भूमिका होती है। ज़िन्दगी के हालात को बदलने की सतत जारी प्रक्रिया के दौरान, स्मृति हमारी मति समृद्ध करती है और फिर प्रज्ञा आलोकित होती है। प्रज्ञा फिर हमारी गति को समृद्ध करती है और मति फिर स्मृति को ज़रूरी मार्गदर्शन के लिए टटोलती हुई उसका नवीकरण करती है और इस तरह इस क्रम को हर बार उन्नततर धरातल पर दोहराया जाता है।

अक्सर ऐसा होता है कि लोग लड़ते हैं और हारते हैं और हार के बावजूद, वे पाते हैं कि अन्ततः उन्हें वह हासिल हो गया है, जिसके लिए वे लड़े थे। लेकिन तब वे पाते हैं कि वास्तव में उससे आगे की किसी चीज़ को पाने के लिए उन्हें लड़ना है और वे उसकी तैयारियों में जुट जाते हैं। अक्सर ऐसा भी होता है कि लोग कुछ सपनों–आदर्शों के लिए लड़ते हैं और जीतने के बाद उन्हें अमल में उतारना भी शुरू कर देते हैं। इस सिलसिले में वे नौसिखुए की तरह कुछ अनगढ़ गढ़ते हैं, ग़लतियाँ करते और सीखते हैं। फिर उन्हें दिल तोड़ देने वाली हार का सामना करना पड़ता है। ऐसा लगता है कि सब कुछ खो–बिखर गया और हालात फिर एकदम वैसे ही हो गये, जैसे उनकी जीत के पहले थे। लेकिन हताशा और संशय से उबरने के बाद वे पाते हैं कि हालात एकदम पहले जैसे नहीं हैं। इन नये हालात में वे फिर से अपने उन्हीं सपनों–आदर्शों के लिए लड़ना शुरू करते हैं तो पाते हैं कि अब उन्हें एक नये उन्नततर धरातल पर लड़ना है और विगत के अनुभवों की समझ (स्मृति) और नये वर्तमान की समझ (मति) ने उनके सपनों–आदर्शों का नवीकरण करते हुए उन्हें भी उन्नत बना दिया है, यानी उनकी प्रज्ञा का विस्तार कर दिया है। लोग पाते हैं कि उनकी लड़ाई की ज़मीन उन्नत हो गयी है; नीति, रणनीति और रणकौशल बदल गये हैं, लेकिन पूरी लड़ाई में रोज़मर्रे की छोटी–छोटी लड़ाइयों की कड़ियाँ पिरोते हुए कई बार मुद्दों के स्तर पर पीछे लौटकर शुरुआत उन्हें उन प्रारम्भिक स्तर की माँगों से करनी पड़ती है, जो लोगों ने कभी हासिल कर ली थीं और जो अब फिर उनसे छीन ली गयी हैं। ये कुछ बुनियादी नारे और मुद्दे पुराने लगते हुए भी नये होते हैं क्योंकि लड़ाई की ज़मीन (परिप्रेक्ष्य) बदल चुकी होती है। लगता है कि शुरुआत फिर वहीं से करनी पड़ रही है, लेकिन वास्तव में यह एक नयी शुरुआत होती है।

अब से 124 वर्षों पहले मई दिवस के वीर शहीदों – पार्सन्स, स्पाइस, एंजेल, फ़िशर और उनके साथियों के नेतृत्व में शिकागो के मज़दूरों ने आठ घण्टे के कार्यदिवस के लिए एक शानदार, एकजुट लड़ाई लड़ी थी। तब हालात ऐसे थे कि मज़दूर कारख़ानों में बारह, चौदह और सोलह घण्टों तक काम करते थे। काम के घण्टे कम करने की आवाज़ उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से ही यूरोप, अमेरिका से लेकर लातिन अमेरिकी और एशियाई देशों तक के मज़दूर उठा रहे थे। पहली बार 1862 में भारतीय मज़दूरों ने भी इस माँग को लेकर कामबन्दी की थी। 1 मई, 1886 को पूरे अमेरिका के 11,000 कारख़ानों के तीन लाख अस्सी हज़ार मज़दूरों ने आठ घण्टे के कार्यदिवस की माँग को लेकर एक साथ हड़ताल की शुरुआत की थी। शिकागो शहर इस हड़ताल का मुख्य केन्द्र था। वहीं 4 मई को इतिहास–प्रसिद्ध 'हे मार्केट स्क्वायर गोलीकाण्ड' हुआ। फिर मज़दूर बस्तियों पर भयंकर अत्याचार का ताण्डव हुआ। भीड़ में बम फेंकने के फ़र्ज़ी आरोप (बम वास्तव में पुलिस के उकसावेबाज़ ने फेंका था) में आठ मज़दूर नेताओं पर मुक़दमा चलाकर पार्सन्स, स्पाइस, एंजेल और फ़िशर को फाँसी दे दी गयी। अपने इन चार शहीद नायकों की शवयात्रा में छह लाख से भी अधिक लोग सड़कों पर उमड़ पड़े थे। पूरे अमेरिकी इतिहास में इतने लोग केवल दासप्रथा समाप्त करने वाले लोकप्रिय अमेरिकी राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन की हत्या के बाद,

(पेज 4 पर जारी)

भीतर के पन्नों पर

कार्ल मार्क्स के जन्मदिवस पर – पेज 3
लुधियाना के होज़री मज़दूर संघर्ष की राह पर – पेज 3
कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है? – पेज 5
मज़दूर दिवस पर पूँजी की सत्ता की ख़िलाफ़ लड़ने का संकल्प – पेज 6
मन्दी की मार झेलते मध्य और पूर्वी यूरोप के मज़दूर – पेज 10
शिकागो के शहीद मज़दूर नेताओं की अमर कहानी – पेज 11
मज़दूर आन्दोलन में माकपा-सीटू के मज़दूर विरोधी कारनामे – पेज 12

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

पुलिस हिरासत में बढ़ती मौतें

देश की सेवक, जनता की रक्षा करने वाली, अपराधियों को सज़ा दिलाने वाली, क़ानून व्यवस्था को बनाये रखने वाली पुलिस, ये कुछ उपमाएँ हैं जो अक्सर पुलिसकर्मियों के लिए इस्तेमाल होते हैं। लेकिन क्या वाक़ई ऐसा ही है या बिल्कुल इसके उलट। रोज़-रोज़ की घटनाओं में आज एक आम आदमी भी अपने अनुभव से जानता है कि ये जनता के रक्षक नहीं बल्कि भक्षक हैं, वर्दीधारी गुण्डे हैं।

जेलों में क़ैदियों के साथ अमानवीय बर्ताव, झूठे मामलों में लोगों को फँसा देना, हिरासत में उत्पीड़न की इन्तहा से लोगों की जान ले लेना, ये आम बातें हैं। तभी तो हाईकोर्ट के एक प्रसिद्ध वकील ने कहा था कि 'इस देश की पुलिस एक संगठित सरकारी गुण्डा गिरोह है।'

हिरासत में मौतों की ख़बर हम आये दिन पढ़ते हैं। एशियन सेण्टर फ़ॉर ह्यूमन राइट्स की हाल की एक रिपोर्ट के अनुसार पिछले दशक में भारत में हिरासत में मौतों का प्रतिशत बढ़ा है।

2000 से 2008 तक जेल में क़ैदियों की मौतों की घटनाएँ 54.02 प्रतिशत बढ़ी थीं और पुलिस हिरासत में मौतों की घटनाएँ 19.88 प्रतिशत बढ़ गयीं। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग और सरकारी विभाग की रिपोर्ट के अनुसार 2000 से 2008 के बीच जेल में मरने वालों की संख्या 10,721 थी जबकि पुलिस हिरासत में 1,345।

यह आँख खोल देने वाला आँकड़ा भी 2010 में उस वक़्त सामने आया, जब सरकार यातना विरोधी विधेयक लाने के बारे में फ़ैसला कर रही है। हालाँकि कौन नहीं जानता कि सरकार की मंशा वाक़ई यातना पर रोकथाम करना नहीं, बल्कि दुनिया की निगाह में भारत की छवि बनाना है। अगर इस विधेयक को संसद में मंजूरी मिल जाती है तो मानवाधिकारों के लिए फ़िक्रमन्द देश के तौर पर भारत की छवि भी दुनिया की नज़रों में पुख़्ता होगी।

1999-2009 के दौरान पुलिस हिरासत में मौतों के मामले में सबसे आगे रहने वाले राज्य

महाराष्ट्र	–	246
उत्तरप्रदेश	–	165
गुजरात	–	139
पश्चिम बंगाल	–	112
आंध्रप्रदेश	–	99

इस देश में क़ानूनों की कमी नहीं है। कितने मानवाधिकार क़ानून भी बने हैं लेकिन फिर भी विचाराधीन क़ैदी के रूप में हज़ारों बेगुनाह बरसों जेल में सड़ते रहते हैं। लोगों को सिर्फ़ शक के आधार पर पकड़े और परेशान करने की घटनाएँ भी आम तौर पर होती हैं।

ग़ौरतलब तथ्य यह भी है कि पुलिस हिरासत में अक्सर ग़रीब लोग ही मारे जाते हैं। उन्हीं को शारीरिक मानसिक यन्त्रणाएँ देकर मारा जाता है। अमीरों के लिए तो जेल में भी सुविधा रहती है।

कहने को तो जेल अपराधों को रोकने के लिए है लेकिन जितनी बुरी तरह बेगुनाहों को जेल में प्रताड़ित किया जाता है वह उन्हें पक्का अपराधी बनने के लिए मजबूर करता है।

हमारे लिए हमारे साथ होने का दम भरने वाली पुलिस द्वारा क़ानून-व्यवस्था का नाम लेकर आम सीधे-साधे नागरिकों पर आतंक का जंगलराज क़ायम किया जाता है। ज़ुल्म और अन्याय के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने वालों को पुलिस दमन का शिकार होना पड़ता है।

लेकिन सोचने की बात है कि क्या पुलिस के लोग इतने दरिन्दे और वहशी जन्मजात होते हैं या उन्हें वैसा बनाया जाता है। यह व्यवस्था उन्हें वैसा बनाती है, ताकि आम जनता में भय और दहशत फैलाकर निरंकुश पूँजीवादी लूट को बरकरार रखा जा सके। जिस तरह से समाज में आम बेरोज़गारों की फ़ौज खड़ी है, उन्हीं में से वेतनभोगियों की नियुक्ति की जाती है और अनुभवी घाघ नौकरशाहों की देखरेख में उन्हें समाज से पूरी तरह काटकर उनका अमानवीकरण कर दिया कर जाता है और इस व्यवस्था रूपी मशीन का नट-बोल्ट बना दिया जाता है।

इसी बात से अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि क्यों आज तक बहुत ही कम पुलिसकर्मियों को सख़्त सज़ा मिली है। आसानी से समझा जा सकता है कि अगर ऐसा हुआ तो उनका मनोबल गिर सकता है और वे व्यवस्था के वफ़ादार चाकर नहीं बने रह सकते।

– नमिता

इस ठण्डी हत्या का ज़िम्मेदार कौन?

आज देशभर में करोड़ों मेहनतकश सुबह से रात तक, 12 से लेकर 16 घण्टे तक काम करते हैं। आप सोच रहे होंगे कि 16 घण्टे काम करने वाला तो बहुत अमीर हो जाता होगा! लेकिन साथियो, ऐसा नहीं होता। अधिक मेहनत करने वाला पारिवारिक ज़िम्मेदारियाँ निभाने के लिए सारी शारीरिक ऊर्जा ख़त्म करके 40 का होते-होते दर्जनों बीमारियों से पीड़ित हो जाता है और अक्सर असमय ही मर जाता है।

ऐसा ही हुआ पप्पू के साथ। हाँ, पप्पू जो उत्तर प्रदेश के फ़ैज़ाबाद ज़िले का रहने वाला था, 8 वर्षों पहले लुधियाना आया था, ताकि वह और उसका परिवार अच्छी ज़िन्दगी जी पाये। पप्पू की उम्र मुश्किल से 26 वर्ष की थी। दो छोटे-छोटे बच्चे हैं। पप्पू के कमरे वाले साथियों के मुताबिक़ पप्पू बहुत मेहनती था, अकसर ही मालिक के कहने पर दिन-रात एक करके काम करता था। मालिक का बहुत चहेता था पप्पू।

पप्पू लुधियाना के फ़ोकल प्वाइण्ट में जीवन नगर चौक के पास स्थित एक लोहा पालिश वाले कारख़ाने में पिछले 8 वर्षों से काम कर रहा था। इस कारख़ाने में लगभग 15 मज़दूर काम करते थे। यहाँ कोई भी श्रम क़ानून लागू नहीं। के. जे. फ़ोरजिंग कम्पनी के माल की यहाँ पालिश की जाती है। अधिकतर काम तेज़ाब और केमिकल का है। लगातार धूल और केमिकल के काम के कारण लगभग डेढ़ वर्ष पहले पप्पू टी.बी. का शिकार हो गया। लेकिन घरेलू मजबूरियों के कारण अपना इलाज नहीं करवा सका। 6 महीने बाद पप्पू की बहन का विवाह था, जिसके लिए वह दिन-रात काम कर रहा था। लेकिन बीमारी ने सारा शरीर खोखला कर दिया था। अप्रैल के महीने में रात में जब पप्पू काम कर रहा था, तो छाती में भयानक दर्द हुआ। जब उसने मालिक को फ़ोन किया, तो मालिक ने इसे नाटकबाज़ी कहा और बोला कि आराम कर लो, सुबह आकर देखूँगा।

पप्पू अपने आप बाहर भी नहीं जा सकता था, क्योंकि मालिक बाहर से गेट को ताला लगा गया था। लुधियाना में अकसर ही मालिक रात को काम चलता छोड़कर कारख़ाने को ताला लगाकर चले जाते हैं। और रात को होने वाले किसी भी हादसे में मज़दूर की कोई सुरक्षा नहीं होती।

सुबह पता चलने पर पप्पू का छोटा भाई और एक अन्य रिश्तेदार कारख़ाने से पप्पू को उठाकर अस्पताल ले गये। एक के बाद एक अस्पताल के इनकार कर देने पर आख़िर डी.एम.सी. अस्पताल में भर्ती किये जाने के कुछ ही देर बाद पप्पू ने दम तोड़ गया। उसे कमरे पर लाया गया। वहीं लगभग 100 साथियों, रिश्तेदारों की मौजूदगी में मालिक ने पप्पू के दोनों बच्चों के नाम बैंक में 10-10 हज़ार जमा करवाने की बात कही तो मज़दूरों का गुस्सा भड़क उठा। हालात को समझते हुए मालिक ने 25-25 हज़ार देना मानकर पीछा छुड़ा लिया।

यह सोचकर कि जो मिलता है ठीक है, सारा परिवार क्रियाक्रम में उलझ गया। लेकिन कुछ दिनों बाद जब मालिक से बात हुई तो वह 25-25 हज़ार देने से एकदम पलट गया और 10-10 हज़ार रुपये देने की बात कहने लगा। कोई रास्ता न देखकर पप्पू के भाई ने मजबूर होकर 20 हज़ार रुपया ले लिया।

इस तरह एक मालिक को अमीर बनाने में दिन-रात काम करने वाले मेहनती मज़दूर पप्पू के परिवार को 20 हज़ार देकर उसकी ज़िन्दगी की क़ीमत अदा कर मालिक एक ठण्डी हत्या से बरी हो गया। चूँकि पप्पू पक्का वर्कर नहीं था, इसलिए मालिक कह सकता था कि उसके पास तो यह व्यक्ति काम ही नहीं करता था। अदालतों में अकसर ही इंसाफ़ की आस लगाये हज़ारों लोग रोज़ाना चक्कर मारते हैं, इसलिए क़ानून से भी परिवार को कोई उम्मीद नहीं। इस तरह रोज़ाना कितने ही पप्पू मर जाते हैं। ऐसे करोड़ों पप्पुओं की लाशों पर अमीरों के महल आख़िर कब तक खड़े होते रहेंगे?

– राजविन्दर

बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाज़ों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल

अब इण्टरनेट पर भी उपलब्ध है। इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक और राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकायें उपलब्ध हैं। हम बिगुल के प्रवेशांक से लेकर अब तक के सभी अंक वेबसाइट पर उपलब्ध कराने के लिए काम कर रहे हैं। वेबसाइट का पता : http://sites.google.com/site/bigulakhbar

'बिगुल' के ब्लॉग पर भी आप इसकी सामग्री पा सकते हैं और अपने विचार एवं सुझाव भेज सकते हैं। ब्लॉग का पता : http://bigulakhbar.blogspot.com

नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय : 69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन : 0522-2335237

सम्पादकीय उपकार्यालय : जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ

दिल्ली सम्पर्क : बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर दिल्ली-94

ईमेल : bigul@rediffmail.com

मूल्य : एक प्रति–रु. 3/- वार्षिक–रु. 40.00 (डाक ख़र्च सहित)

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" – लेनिन

'बिगुल' मज़दूरों का अपना अखबार है। यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता। बिगुल के लिए सहयोग भेजिए/जुटाइए।

सहयोग कूपन मँगाने के लिए बिगुल कार्यालय को लिखिये।

बिगुल 'जनचेतना' की सभी शाखाओं पर उपलब्ध है :

● डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020 फ़ोन : 0522 2786782 ● जनचेतना स्टाल, काफ़ी हाउस बिल्डिंग, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे) ● जाफ़रा बाज़ार, गोरखपुर-273001 ● जनचेतना, दिल्ली – फ़ोन : 09213639072 ● जनचेतना, लुधियाना – फ़ोन : 09815587807

जन्मदिन (5 मई, 1818) के अवसर पर

मज़दूर वर्ग के महान शिक्षक और क्रान्तिकारी नेता कार्ल मार्क्स

14 मार्च (1883) को तीसरे पहर, पौने तीन बजे, संसार के सबसे महान विचारक की चिन्तन-क्रिया बन्द हो गयी। उन्हें मुश्किल से दो मिनट के लिए अकेला छोड़ा गया होगा, लेकिन जब हम लोग लौटकर आये, हमने देखा कि वह आरामकुर्सी पर शान्ति से सो गये हैं – परन्तु सदा के लिए।

इस मनुष्य की मृत्यु से यूरोप और अमेरिका के जुझारू सर्वहारा वर्ग की और ऐतिहासिक विज्ञान की अपार क्षति हुई है। इस ओजस्वी आत्मा के महाप्रयाण से जो अभाव पैदा हो गया है, लोग शीघ्र ही उसे अनुभव करेंगे।

जैसेकि जैव प्रकृति में डार्विन ने विकास के नियम का पता लगाया था, वैसे ही मानव इतिहास में मार्क्स ने विकास के नियम का पता लगाया था। उन्होंने इस सीधी-सादी सच्चाई का पता लगाया जो अब तक विचारधारा की अतिवृद्धि से ढँकी हुई थी – कि राजनीति, विज्ञान, कला, धर्म, आदि में लगने के पूर्व मनुष्य जाति को खाना-पीना, पहनना-ओढ़ना और सिर के ऊपर साया चाहिए। इसलिए जीविका के तात्कालिक भौतिक साधनों का उत्पादन और फलत: किसी युग में अथवा किसी जाति द्वारा उपलब्ध आर्थिक विकास की मात्रा ही वह आधार है जिस पर राजकीय संस्थाएँ, क़ानूनी धारणाएँ, कला और यहाँ तक कि धर्म-सम्बन्धी धारणाएँ भी विकसित होती हैं। इसलिए इस आधार के ही प्रकाश में इन सबकी व्याख्या की जा सकती है, न कि इससे उलटा, जैसाकि अब तक होता रहा है।

परन्तु इतना ही नहीं, मार्क्स ने गति के उस विशेष नियम का पता लगाया जिससे उत्पादन की वर्तमान पूँजीवादी प्रणाली और इस प्रणाली से उत्पन्न पूँजीवादी समाज, दोनों ही नियन्त्रित है। अतिरिक्त मूल्य के आविष्कार से एकबारगी उस समस्या पर प्रकाश पड़ा, जिसे हल करने की कोशिश में किया गया अब तक सारा अन्वेषण – चाहे वह पूँजीवादी अर्थशास्त्रियों ने किया हो या समाजवादी आलोचकों ने, अन्धा अन्वेषण ही था।

कार्ल मार्क्स और फ़्रेडरिक एंगेल्स मज़दूरों के क्रान्तिकारी अख़बार की छपाई देखते हुए

ऐसे दो आविष्कार एक जीवन के लिए काफ़ी हैं। वह मनुष्य भाग्यशाली है, जिसे इस तरह का एक भी आविष्कार करने का सौभाग्य प्राप्त होता है। परन्तु जिस भी क्षेत्र में मार्क्स ने खोज की और उन्होंने बहुत से क्षेत्रों में खोज की और एक में भी सतही छानबीन करके ही नहीं रह गये, उसमें यहाँ तक कि गणित में भी, उन्होंने स्वतन्त्र खोजें कीं।

ऐसे वैज्ञानिक थे वह। परन्तु वैज्ञानिक का उनका रूप उनके समग्र व्यक्तित्व का अर्द्धांश भी न था। मार्क्स के लिए विज्ञान ऐतिहासिक रूप से एक गतिशील, क्रान्तिकारी शक्ति था। वैज्ञानिक सिद्धान्तों में किसी नयी खोज, जिसके व्यावहारिक प्रयोग का अनुमान लगाना अभी सर्वथा असम्भव हो, उन्हें कितनी भी प्रसन्नता क्यों न हो, जब उनकी खोज से उद्योग-धन्धों और सामान्यत: ऐतिहासिक विकास में कोई तात्कालिक क्रान्तिकारी परिवर्तन होते दिखायी देते थे, तब उन्हें बिल्कुल ही दूसरे ढंग की प्रसन्नता का अनुभव होता था। उदाहरण के लिए बिजली के क्षेत्र में हुए आविष्कारों के विकासक्रम का और मरसैल देप्रे के हाल के आविष्कारों का मार्क्स बड़े ग़ौर से अध्ययन कर रहे थे।

मार्क्स सर्वोपरि क्रान्तिकारी थे। जीवन में उनका असली उद्देश्य किसी न किसी तरह पूँजीवादी समाज और उससे पैदा होने वाली राजकीय संस्थाओं के ध्वंस में योगदान करना था, आधुनिक सर्वहारा वर्ग को आज़ाद करने में योग देना था, जिसे सबसे पहले उन्होंने ही अपनी स्थिति और आवश्यकताओं के प्रति सचेत किया और बताया कि किन परिस्थितियों में उसका उद्धार हो सकता है। संघर्ष करना उनका सहज गुण था। और उन्होंने ऐसे जोश, ऐसी लगन और ऐसी सफलता के साथ संघर्ष किया जिसका मुक़ाबला नहीं है। प्रथम 'राइनिश ज़ाइटुंग' (1842) में, पेरिस के 'वोरवार्ट्स' (1844) में, 'डायचे ब्रसलेर ज़ाइटुंग' (1847) में, 'न्यू राइनिश ज़ाइटुंग' (1848-1849) में, 'न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून' (1852-1861) में उनका काम, इनके अलावा अनेक जोशीली पुस्तिकाओं की रचना, पेरिस, ब्रसेल्स और लन्दन के संगठनों में काम और अन्तत: उनकी चरम उपलब्धि महान **अन्तरराष्ट्रीय मज़दूर संघ** की स्थापना – यह इतनी बड़ी उपलब्धि थी कि इस संगठन का संस्थापक, यदि उसने कुछ भी और न किया होता, उस पर उचित ही गर्व कर सकता था।

इस सबके फलस्वरूप मार्क्स अपने युग में सबसे अधिक विद्वेष तथा लांछना के शिकार बने। निरंकुशतावादी और जनतन्त्रवादी, दोनों ही तरह की सरकारों ने उन्हें अपने राज्यों से निकाला। पूँजीपति, चाहे वे रूढ़िवादी हों चाहे घोर जनवादी, मार्क्स को बदनाम करने में एक-दूसरे से होड़ करते थे। मार्क्स इस सबको यूँ झटकारकर अलग कर देते थे जैसे वह मकड़ी का जाला हो, उसकी ओर ध्यान न देते थे, आवश्यकता से बाध्य होकर ही उत्तर देते थे। लेकिन अब वह इस संसार में नहीं हैं।

साइबेरिया की खदानों से लेकर कैलिफ़ोर्निया तक, यूरोप और अमेरिका के सभी भागों में उनके लाखों क्रान्तिकारी मज़दूर साथी जो उन्हें प्यार करते थे, उनके प्रति श्रद्धा रखते थे, आज उनके निधन पर आँसू बहा रहे हैं। मैं यहाँ तक कह सकता हूँ कि चाहे उनके विरोधी बहुत से रहे हों, परन्तु उनका कोई व्यक्तिगत शत्रु शायद ही रहा हो। उनका नाम युगों-युगों तक अमर रहेगा, वैसे ही उनका काम भी अमर रहेगा!

(मार्क्स के अभिन्न मित्र और मज़दूर वर्ग के महान शिक्षक फ़्रेडरिक एंगेल्स द्वारा हाइगेट क़ब्रिस्तान, लन्दन में मार्क्स की समाधि पर 17 मार्च 1883 को दिया गया भाषण।)

लुधियाना के होज़री मज़दूर संघर्ष की राह पर

लुधियाना में हौज़री उद्योग में पैसा लगाने वाले उद्योगपति तेज़ी से तरक्क़ी करके बेहिसाब मुनाफ़ा कमा रहे हैं। इसलिए अब छोटे कारख़ानों के अलावा होज़री उद्योग में बड़े-बड़े कारख़ाने आये और आ रहे हैं जिनमें मज़दूरों की संख्या कुछ सौ से लेकर हज़ारों तक भी है।

इन होज़रियों में एक के मालिक पी. के. का नाम आता है जिसके तीन कारख़ानों में 1000 से ऊपर कारीगर काम करते हैं। सभी कारख़ानों में ठेके (पीस रेट) पर काम होता है। कारख़ाने में किसी वर्कर का पहचान पत्र, पक्का हाज़िरी रजिस्टर, हाज़िरी कार्ड, पीएफ़, बोनस, छुट्टियाँ, डबल ओवर टाइम आदि कोई भी श्रम क़ानून लागू नहीं। आदर्श नगर वाली यूनिट में 500 से अधिक मज़दूर होने पर भी फ़ैक्ट्री लिमिटेड नहीं है। ग़ैरक़ानूनी तरीक़े से चल रही है। यही हाल लुधियाना की अधिकतर होज़रियों का है। लेकिन पी.के. के नियम कुछ ख़ास हैं। कारीगरों के बताये अनुसार जो माल वे बना रहे हैं, उसका बाज़ार में रेट 15-16 रुपये प्रति पीस मिलता है लेकिन पी.के. उसके 11.30 रुपये देता था और माल अधिक कसा हुआ बनवाता था। इस कारण मशीन भारी चलती है और मेहनत ज़्यादा लगती है।

पिछली 14 अप्रैल को पी.के. होज़री में पीस रेट बढ़ाने के लिए फ़ैक्ट्री मज़दूरों ने काम बन्द कर दिया। पाँचवें दिन आख़िरकार मालिक कुछ पीस रेट बढ़ाने के लिए मज़बूर हुआ। इस तरह मज़दूरों ने एक छोटा लेकिन महत्त्वपूर्ण संघर्ष किया और कुछ सफलता भी प्राप्त की और बाक़ी कारख़ानों के मज़दूरों को भी अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा दी, जो पी.के. फ़ैक्ट्री के कारीगरों की तरह ही दिन-रात मेहनत करके अपनी पारिवारिक ज़रूरतें पूरी करने की कोशिश कर रहे हैं।

पिछले वर्ष भी कारीगरों ने पीस रेट में बढ़ोत्तरी के लिए हड़ताल की थी जिसके बाद पीस रेट में एक रुपये चालीस पैसे की बढ़ोत्तरी हो गयी थी। लेकिन इस वर्ष महँगाई में दोगुना बढ़ोत्तरी हुई है तो भी मालिक ने पीस रेट बढ़वाने की बात तक नहीं की। कारीगरों ने मालिक तक पीस रेट बढ़वाने के लिए आवाज़ पहुँचायी जो अनसुनी कर दी गयी। वर्करों की माँग के अनुसार मालिक रेट देने के लिए तैयार नहीं था। इससे मजबूर होकर कारीगरों ने हड़ताल कर दी थी, जो पाँच दिन तक चली। 19 अप्रैल को मालिक ने प्रति पीस 1 रुपये 95 पैसे की बढ़ोत्तरी की, तो कारीगरों ने 13 रुपये 25 पैसे पीस रेट पर आपसी सहमति से फ़ैसला कर लिया और इस तरह एक आंशिक सफलता प्राप्त की। मज़दूरों द्वारा लड़ा गया यह छोटा-सा लेकिन महत्त्वपूर्ण संघर्ष था जिसके बहुत से अच्छे पक्ष रहे।

आदर्श नगर (नज़दीक समराला चौक) वाले कारख़ाने में 500 से अधिक मज़दूर काम करते हैं। इसमें स्वेटर, जर्सियाँ बनती हैं। इस कारख़ाने में 400 फ्लैट मशीनें चलाने वाले, लगभग 70 दर्ज़ी, 20 कोना बैण्डर वाले, लगभग 20-25 मज़दूर सफ़ाई और हेल्पर हैं। इस कारख़ाने के मज़दूरों ने संघर्ष की पहलक़दमी की। अपनी परिस्थितियों को बेहतर बनाने के लिए मज़दूरों द्वारा किया गया यह संघर्ष जायज़ और प्रशंसनीय था। इस आन्दोलन में परस्पर विचार-चर्चा और आपसी सहमति से हड़ताल करने का पहलू तारीफ़ करने लायक था।

14 अप्रैल को वेतन मिलने के बाद हड़ताल करना मज़दूरों के अनुभव में से सीखे सबक़ों में से एक था। क्योंकि पिछले वर्ष बिना वेतन लिये ही काम बन्द कर दिया गया था जिस कारण कारीगर हड़ताल के बाद आर्थिक संकट में फँसने के कारण जल्दी ही हड़ताल तोड़ने के लिए मज़बूर हो गये थे। मज़दूरों ने अपनी एकता के दम पर निडर होकर मालिक के सामने अपनी माँगें रखीं और बातचीत की, जिसने मालिकों के मज़दूरों के अन्दर आतंक को तोड़ा। मज़दूरों की एकता और आत्मविश्वास की भावना मज़बूत हुई।

कुछ बातों का ध्यान रखा जाये तो ऐसे संघर्ष को और बेहतर ढंग से तथा और अधिक माँगें मनवाने की तरफ़ मोड़ा जा सकता है।

सबसे पहले तो परिस्थितियों की ठोस जानकारी हासिल करना ज़रूरी था। मज़दूर आन्दोलनों के इतिहास का यह एक अहम सबक़ है कि जब कारख़ाना मन्दी में चल रहा हो तो हड़ताल करना एक हद तक मालिक का फ़ायदा करना ही होता है। क्योंकि मालिक के पास कोई ऑर्डर नहीं होता और वह पहले ही काम बन्द कर देना चाहता है। अपनी माँगें मालिकों के आगे तब रखनी चाहिए, जब काम पूरे ज़ोर-शोर से चल रहा होता है। मालिक को ऑर्डर टूटने का डर रहता है और मालिक जल्दी माँगें मानने को मज़बूर होता है। इस बात का पी.के. होज़री के मज़दूर साथियों ने ध्यान नहीं रखा।

अगर कारख़ाने में हड़ताल करनी ही हो तो हमें संघर्ष में ऐसी माँगें भी शामिल करनी चाहिए जो सभी मज़दूरों की साझी हों। वे भले ही वेतन वाले हों या पीस रेट वाले। जैसे कारख़ाने की ओर से पहचान पत्र बनाने, ई.एस.आई, साप्ताहिक छुट्टी, ज़बरदस्ती ओवर टाइम लगवाने पर पाबन्दी, कारख़ाने में मज़दूरों का हाज़िरी रजिस्टर, पीने के साफ़ पानी, साफ़-सफ़ाई का प्रबन्ध, आदि ऐसी माँगें हो सकती हैं।

हड़ताल से पहले हड़ताल की तैयारी करनी होती है। हड़ताल तो मज़दूरों का आख़िरी हथियार है। जब कोई सुनवाई नहीं होती, हड़ताल तब की जाती है। इससे पहले विभिन्न विभागों में मीटिंगें, गेट मीटिंगें, कुछ घण्टों के लिए काम बन्द करना जिससे पता चल जाता है कि कितने कारीगर एकता में शामिल हैं। संघर्ष फ़ण्ड जमा करना – अगर हड़ताल कुछ दिन अधिक चल जाये तो परिवार का पेट पालने के लिए यूनियन अपने सदस्यों की मदद करे। अपनी कुछ माँगें छाँटकर माँगपत्र तैयार करके सभी कारीगरों से साइन करवाकर कारख़ाना प्रबन्धन और लेबर अधिकारियों को देना चाहिए। अगर तय समय पर माँगें नहीं मानी जाती हैं तो हड़ताल की जा सकती है। इसके लिए भी हड़ताल का दायरा बड़ा करना चाहिए। कारीगरों की एक साझी संघर्ष कमेटी बनाकर बहुमत की सहमति से फ़ैसले लागू होने चाहिए। अन्य कारख़ानों के मज़दूरों को भी हड़ताल में शामिल करने की कोशिश करनी चाहिए।

पी.के. में पहले हुई हड़ताल और इस बार हुई हड़ताल में भी कारीगर छुट्टी करके घर बैठ गये थे और सिर्फ़ बीस-पच्चीस प्रतिशत कारीगर ही कारख़ाने के आसपास घूमते रहते थे या कारख़ाने के पास पार्क में बैठ जाते थे। इस तरह छुट्टी करके घर बैठ जाना आन्दोलन से पलायन कर जाना है। आपसी सहयोग और एकता में विश्वास करके ही मालिकों से कोई माँग मनवायी जा सकती है। हड़ताल करके गेट पर धरना लगाकर बैठ जाने से मालिक को इस बात का अहसास हो जाता है कि मज़दूर संघर्ष करने के लिए दृढ़ हैं।

इस आन्दोलन में जो मज़दूर साथी आगे होकर मालिकों से रेट की बात कर रहे थे, उन्हें मालिक काम से हटाने की कोशिश करेंगे। अधिकतर कारख़ानों में मालिक नेतृत्वकारी मज़दूरों को किसी न किसी बहाने कारख़ाने से बाहर का रास्ता दिखा देते हैं। इन्हीं बातों के मद्देनज़र आपसी एकता बनाये रखना आने वाले समय की माँग है। बाक़ी कारख़ानों के मज़दूरों से सम्पर्क करके होज़री उद्योग के मज़दूरों की एक साझा संघर्ष कमेटी बनाने और एक साझा माँगपत्र तैयार करके उस पर संघर्ष का आधार तैयार करने का यह समय है।

– राजविन्दर

मज़दूर साथियो! नयी सदी में पूँजी के ख़िलाफ़ वर्ग युद्ध में फ़ैसलाकुन और मुकम्मल जीत के लिए आगे बढ़ो!!

(पेज 1 से आगे)

उनकी शवयात्रा में ही शामिल हुए थे।

शिकागो की बहादुराना लड़ाई को ख़ून के दलदल में डुबो दिया गया, पर यह मुद्दा जीवित बना रहा और उसे लेकर दुनिया के अलग-अलग कोनों में मज़दूर आवाज़ें उठाते रहे और कुचले जाते रहे। काम के घण्टे की लड़ाई उजरती गुलामी के ख़िलाफ़ इंसान की तरह जीने की लड़ाई थी। यह पूँजीवाद के बुनियाद पर चोट करने वाला एक मुद्दा था। इसे उठाना मज़दूर वर्ग की बढ़ती वर्ग-चेतना का, उदीयमान राजनीतिक चेतना का द्योतक था। इसीलिए मई दिवस को दुनिया के मेहनतकशों के राजनीतिक चेतना के युग में प्रवेश का प्रतीक दिवस माना जाता है।

शिकागो के मज़दूरों को कुचल दिया गया। पूरी दुनिया में 8 घण्टे के कार्यदिवस की माँग उठाने वाले मज़दूर आन्दोलनों को कुछ समय के लिए पीछे धकेल दिया गया। लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था को चलाने वाले दूरदर्शी नीति-निर्माता यह समझ चुके थे कि इस माँग को दबाया नहीं जा सकता और पूँजीपतियों के हित में पूँजीवाद को बचाने के लिए 8 घण्टे कार्यदिवस के लिए क़ानून बना देना ही उचित होगा। बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों में ही दुनिया के ज़्यादातर देशों में ऐसे क़ानून बनाये जा चुके थे। हालाँकि उन्नत मशीनें लाकर, कम समय में ज़्यादा उत्पादन करके मज़दूर के शोषण का सिलसिला फिर भी जारी रहा (बल्कि पहले से भी ज़्यादा मुनाफ़ा निचोड़ा जाने लगा) फिर भी मज़दूर को सोने-आराम करने, परिवार के साथ समय बिताने के लिए, इंसान की तरह जीने के लिए, कुछ वक़्त भी नसीब होने लगा। हालाँकि एक समस्या यह भी थी कि क़ानून बनने के बावजूद, इसके प्रभावी अमल के लिए मज़दूर वर्ग को लगातार लड़ना पड़ा और असंगठित मज़दूरों के लिए यह क़ानून, और ऐसे तमाम क़ानून कभी भी बहुत प्रभावी नहीं रहे।

बात अब केवल काम के घण्टों की नहीं रह गयी थी। मज़दूर अब अपनी ऐसी तमाम राजनीतिक माँगों को उठाने लगे थे। पेशागत संकुचित वृत्ति टूटने लगी थी। केवल अपने ही कारख़ाने या अपने ही पेशे के मज़दूरों से जुड़े मसलों को उठाने और कुछ आर्थिक माँगों की सँकरी चौहद्दी तक क़ैद रहने के बजाय मज़दूर अब उन्नत वर्ग-चेतना से लैस होकर अपने पूरे वर्ग के आम हितों और राजनीतिक अधिकारों की माँग उठाने लगे थे। इसमें इतिहास की गति-नियति को वैज्ञानिक ढंग से समझने वाले हरावल तत्त्वों ने – वैज्ञानिक भौतिकवादी दर्शन को मानने वाले लोगों ने विशेष भूमिका निभायी। उन्होंने मज़दूर आन्दोलन में वैज्ञानिक समाजवादी विचारों के बीज डाले। उन्होंने मज़दूर वर्ग को बताया कि अपनी राजनीति का वर्चस्व स्थापित करके ही वे पूँजी की आर्थिक जकड़बन्दी को तोड़ सकते हैं। उन्होंने मज़दूर वर्ग को बताया कि केवल इसी चौहद्दी के भीतर कुछ सहूलियतें और दुअन्नी-चवन्नी माँगते रहने के बजाय मज़दूर वर्ग को उजरती गुलामी को ही समाप्त करने के बारे में सोचना होगा। पूँजीवाद को क़ब्र तक पहुँचाना मज़दूर वर्ग का ऐतिहासिक मिशन है। लेकिन हर लड़ाई या मोर्चे की सबसे बड़ी कमज़ोरी भितरघाती तत्त्व होते हैं। मज़दूर आन्दोलन के ऐसे भितरघाती वे अर्थवादी, ट्रेड यूनियनवादी थे, जो मज़दूरों को अपनी राजनीतिक लड़ाई और ऐतिहासिक मिशन को भुलाकर केवल तात्कालिक आर्थिक मुद्दों और कुछ सहूलियतों के लिए लड़ने की नसीहत देते रहते थे। मज़दूर आन्दोलन के भितरघाती वे संशोधनवादी थे जो मज़दूरों को बताते थे कि पूँजीवादी राज्यसत्ता का ध्वंस करना – यानी क्रान्ति – ज़रूरी नहीं है। मज़दूर वर्ग चुनाव जीतकर संसद में बहुमत ला देगा तो पूँजीपति उसे सरकार बनाकर समाजवाद लाने का मौक़ा देने को मजबूर होंगे। मज़दूर आन्दोलन में ऐसे विभीषण, जयचन्द और मीरज़ाफ़र पिछले सौ सालों से भी अधिक समय से तरह-तरह के भेस बदलकर मौजूद रहे हैं और उनकी शातिराना चालें आज भी जारी हैं। बीसवीं शताब्दी के शुरुआती दशकों में इन भितरघातियों को सरेआम नंगा करके दौड़ा लेने के बाद ही मज़दूर वर्ग अपनी राजनीतिक लड़ाई आगे बढ़ा पाया था। एक बार जब राजनीतिक चेतना और राजनीतिक लड़ाई आगे विकसित हुई तो फिर उसे आख़िरकार राज्यसत्ता दख़ल की लड़ाई बननी ही थी।

मज़दूर वर्ग ने रूस में अक्टूबर 1917 में पूँजीपति वर्ग की राज्यसत्ता का ध्वंस करके सर्वहारा राज्यसत्ता की स्थापना की। इसके पहले, मई दिवस से भी पहले, 1871 में पेरिस के मज़दूर पूँजीवादी राज्यसत्ता को उखाड़कर फ़्रांस की राजधानी पेरिस में 72 दिनों तक कम्यून का शासन चला चुके थे। यह पहला प्रयोग अल्पजीवी था, लेकिन इससे मज़दूर वर्ग को समाजवाद के दौर की राज्यसत्ता और नीतियों के बारे में बेशक़ीमती सबक़ मिले थे।

सोवियत संघ में मज़दूर वर्ग ने एक लम्बी लड़ाई लड़कर पूँजीपति वर्ग के प्रतिरोध को चकनाचूर किया, पूरी दुनिया के साम्राज्यवादियों की घेरेबन्दी, हमले और साज़िशों को नाकाम किया और समाजवाद के निर्माण को आगे बढ़ाया। इतिहास में पहली बार उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व का ख़ात्मा हुआ – मज़दूर राज्य ने कारख़ानों का राष्ट्रीकरण और खेतों का सामूहिकीकरण किया जो मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण के ख़ात्मा की दिशा में पहला बुनियादी क़दम था। उजरती गुलामी के ख़ात्मे के साथ, उत्पादक शक्तियों की अभूतपूर्व गति से तरक़्क़ी हुई। न केवल आर्थिक, बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक प्रगति के भी नये कीर्तिमान स्थापित हुए। स्त्रियों के मुक्त होने और स्त्री-पुरुष समानता क़ायम होने के साथ ही मानव-समाज की असली सुन्दरता निखरकर सामने आयी। सोवियत समाज में स्वास्थ्य, शिक्षा नि:शुल्क थे। सामाजिक अपराध नगण्य हो चले थे। बेरोज़गारी समाप्त हो चली थी। इन्हीं सबके चलते समाजवाद ने जनसमुदाय की वह एकजुट ताक़त हासिल की थी, जिसके बूते (दो करोड़ 70 लाख लोगों की अभूतपूर्व क़ुर्बानी देकर) सोवियत संघ ने फ़ासीवादी राक्षस को मिट्टी में मिलाकर पूरी दुनिया को उसके क़हर से बचाया।

लेकिन इन महान उपलब्धियों के बावजूद मज़दूर वर्ग का वास्तविक लक्ष्य – हर प्रकार की असमानता और शोषण के बारीक़ रूपों से भी इंसानियत की पूरी आज़ादी – अभी काफ़ी दूर था। पूँजीवादी उत्पादन के छोटे से छोटे रूप के ख़ात्मे के बाद भी समस्या माल के रूप में श्रम के ख़रीद-फ़रोख़्त के ख़ात्मे की थी, शारीरिक श्रम-मानसिक श्रम के अन्तर से पैदा होने वाले विशेषाधिकारों के ख़ात्मे की थी, वर्गीय असमानता के हज़ारों वर्षों के दौरान निर्मित ऊपरी ढाँचे – संस्कृति, आचार-विचार, सामाजिक मूल्यों-संस्थाओं – को बदलने की थी और समूचे मेहनतकश जनसमुदाय को उस स्तर तक शिक्षित-सुसंस्कृत बनाने की थी कि वह ग्रासरूट स्तर से सीखते हुए ऊपर तक, राजकाज के सभी कामों को ख़ुद सामूहिक तौर पर सँभाल सके। पहली बार मज़दूर वर्ग समाजवाद का निर्माण कर रहा था, अनगढ़ तरीक़े से और ग़लतियाँ करके सीखते हुए, क्योंकि उसके सामने अतीत की कोई व्यावहारिक मिसाल नहीं थी। समस्या उसके सामने पूरी विश्व-पूँजी की आर्थिक-राजनीतिक-फ़ौजी ताक़त की थी और उससे भी बड़ी समस्या देश के भीतर की उन छुपी हुई समाजवाद विरोधी ताक़तों की थी, जो विशेषाधिकार और शासन करने की अपनी ताक़त छोड़ना नहीं चाहते थे। ऐसी ताक़तें मज़दूर राज्यसत्ता और मज़दूर वर्ग की पार्टी के भीतर भी थीं। ये पूँजीवादी राह के राही वैसे ही लोग थे, जैसे इन्क़लाब के पहले के समय में ट्रेड यूनियनवादी, अर्थवादी और संसदवादी नामधारी मज़दूर नेता होते हैं। इनकी, इनकी नीतियों और उनके मक़सद की तथा इनके सामाजिक-आर्थिक आधार की सही शिनाख़्त नहीं हो पाने के कारण सोवियत संघ में इनके ख़िलाफ़ सही तरीक़े से वर्ग-संघर्ष नहीं चल सका। वर्ग शक्तियों का सन्तुलन बदलता रहा, ये ताक़तें मज़बूत होती रहीं और मौक़ा देखकर 1955-56 के वर्षों में इन्होंने सत्ता हथिया ली। झण्डे का रंग वही रहा, पर पार्टी और राज्य का चरित्र बदल गया। समाजवादी राजकीय और सामूहिक सम्पत्ति पूँजीवादी क़िस्म का पब्लिक सेक्टर बन गयी। फिर 1990-91 में कलई भी उतर गयी। 'पब्लिक सेक्टर' की जगह खुले तौर पर प्राइवेट सेक्टर वाला पूँजीवाद आ गया। 1949 में चीन में क्रान्ति हुई और साम्राज्यवाद से मुक्ति और सामन्तवाद के ख़ात्मे के बाद वहाँ भी समाजवाद का निर्माण शुरू हुआ। चीन के मेहनतकश जनसमुदाय और उसके नेतृत्व के सामने सोवियत संघ की उपलब्धियों और नाक़ामयाबियों की नज़ीर थी। उनसे सीखकर क्रान्तिकारी नेतृत्व में चीनी जनता ने समाजवाद का निर्माण शुरू किया। सोवियत संघ में सत्तारूढ़ नक़ली कम्युनिस्टों के विरुद्ध संघर्ष चलाकर उन्हें बेनक़ाब किया और अपने देश के भीतर भी ऐसे पूँजीवादी राह के राहियों के ख़िलाफ़ संघर्ष भी चलाये। समस्या यह थी कि चीन एक बेहद पिछड़ा हुआ, किसानी अर्थव्यवस्था वाला देश था। वहाँ का मज़दूर वर्ग तादाद के हिसाब से कम और चेतना के हिसाब से पिछड़ा था। फिर भी, कठिन संघर्षों में तपकर वहाँ मज़दूर वर्ग की पार्टी मज़बूत और समझदार बनी। आख़िर, 1966 तक आते-आते (सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान) चीन के समाजवादी प्रयोगों में यह रास्ता निकल ही गया कि समाजवादी समाज में वर्ग-संघर्ष कैसे चलाया जाये और पूँजीवाद की वापसी कैसी रोकी जाये। रास्ता तो निकल गया, पर पूँजीवाद की वापसी रोकी नहीं जा सकी। 1976-77 में समाजवाद का झण्डा वहाँ भी गिर गया। वजह साफ़ थी। एक तो चीन में समाजवाद की वस्तुगत ज़मीन शुरू से कमज़ोर थी। दूसरे, सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के देशों में मज़दूर राज के पतन के बाद, दुनिया में भी वह यूँ भी अलग-थलग पड़ गया था। तीसरे, समाजवादी समाज में वर्ग-संघर्ष की राह समझने तक इतना समय लग चुका था कि वर्ग-शक्ति सन्तुलन बदल चुके थे। चौथे, इस समझ को पहली बार अमल में लाते हुए, ज़ाहिर है कि कुछ ग़लतियाँ हुई थीं।

पूरी दुनिया में समाजवाद का परचम गिरने के बाद, इतिहास मानो उलटकर, कुछ वक़्त के लिए पीछे की ओर चल पड़ा। पूँजी की ताक़तों ने श्रम की ताक़तों को एकदम कोने में धकेल दिया। विशेषकर, 1990 के बाद, पूरी दुनिया में उदारीकरण-निजीकरण की जो लहर चली, उसमें मज़दूरों ने उन अधिकांश अधिकारों को खो दिया जो उन्होंने लगभग एक शताब्दी लम्बी लड़ाई के दौरान हासिल किये थे। सारी सामाजिक सुरक्षाएँ छीन ली गयीं। लगभग सभी राजनीतिक अधिकार निरस्त कर दिये गये। काग़ज़ों पर कुछ क़ानून मौजूद रहे, श्रम विभाग भी मौजूद रहे, लेकिन व्यवहारत: कारख़ानों में मज़दूरों की स्थिति वह हो गयी जो यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में थी। संगठित मज़दूरों का हिस्सा कारख़ानों में भी सिकुड़कर, बेहद कम हो गया। आज ज़्यादातर मज़दूर ठेका, दिहाड़ी, पीस रेट पर काम करते हैं जिनके साप्ताहिक अवकाश तक नहीं होते हैं, काम के घण्टे बारह-चौदह तक होते हैं, ओवरटाइम की मज़दूरी सिंगल रेट पर ही मिलती है और पी.एफ़., पेंशन, ई.एस.आई., स्वास्थ्य-सुविधा, आवास भत्ता कुछ भी नहीं मिलता। दुर्घटनाओं के मुआवज़े देने के बजाय गुण्डागर्दी करके भगा दिया जाता है। स्त्री मज़दूरों की दशा तो और भी नारकीय है। कहने को श्रम क़ानून, श्रम विभाग और श्रम न्यायालय अभी भी मौजूद हैं, पर मज़दूरों के लिए उनका कोई मतलब नहीं है। समय-समय पर कुछ राहतें, रियायतें भी दी जाती हैं, कुछ क़ानून भी बनते हैं और प्रशासनिक सुधार के कुछ वायदे भी होते हैं, कुछ कवायदें भी होती हैं, वह भी तब जब अँधेरगर्दी एकदम हद पार कर जाती है और तमाम पस्ती के बावजूद मज़दूर भड़क उठते हैं, या फिर तब जब पूँजीवादी जनवाद को अलफ़ नंगा होने से बचाना ज़रूरी हो जाता है।

यह है मज़दूर वर्ग की ज़िन्दगी की आज की हक़ीक़त। ऐसा लगता है कि उसे वापस उन्नीसवीं शताब्दी में, मई 1886 और 1871 के पेरिस कम्यून के दिनों से भी काफ़ी पीछे धकेल दिया गया है। लगता है कि जैसे, एकबारगी सब कुछ खो-बिखर गया है। पिछली शताब्दी के अन्तिम दशक के वर्षों में ऐसा लगता था मानो, अब पीछे लौटकर लड़ाई 1886 के शिकागो मज़दूर आन्दोलन के दिनों से शुरू करनी पड़ेगी; काम के घण्टे आदि की वही माँगें, वही स्थितियाँ...

लेकिन नयी शताब्दी के शुरुआती वर्षों तक आते-आते हालात काफ़ी बदले हुए दिखने लगे। आज मज़दूर वर्ग की लड़ाई के कई नारे (काम के घण्टे, काम की परिस्थितियाँ, बुनियादी सुविधाएँ, सामाजिक सुरक्षा आदि) भले ही वही हों, लेकिन लड़ाई की ज़मीन बदल गयी है और परिप्रेक्ष्य बदल गया है। उत्पादन के तौर-तरीक़ों में आये बदलावों के चलते मज़दूर वर्ग को पुराने मुद्दों पर नयी लड़ाई लड़नी है और ख़ुद को नये ढंग से संगठित करना है। ज़्यादातर मज़दूर दिहाड़ी और ठेका मज़दूर हैं, पर वे उन्नत स्तर के उत्पादन-तन्त्र में काम करते हैं। साथ ही, एक कारख़ाने की चौहद्दी से बँधाव से पैदा होने वाली संकुचित वृत्ति उनमें कम है। उनकी ज़्यादातर माँगें प्रकृति से राजनीतिक हैं और पूँजीवादी ढाँचे की चौहद्दी को आज वे आसानी से देख सकते हैं। इन मज़दूरों में ट्रेड यूनियन के धन्धेबाज़ नेताओं की पैठ-पकड़ भी कम है। मुख्य समस्या इन मज़दूरों को जागृत, लामबन्द और संगठित कर सकने वाले एक नये क्रान्तिकारी नेतृत्व की है, जो वर्ग संघर्ष की प्राथमिक पाठशाला (ट्रेड यूनियन) को और उसके पाठयक्रम को आज के हिसाब से संगठित कर सके, जो मज़दूर वर्ग को एक बार फिर उसके ऐतिहासिक मिशन से परिचित कराये, जो मज़दूर वर्ग को विभिन्न मंचों और कार्रवाइयों के दौरान मज़दूर वर्ग की सामूहिक पहलक़दमी और सर्जनात्मकता को विकसित करे और उसे यह विश्वास दिलाये कि उत्पादन, राजकाज और समाज के संचालन का काम और फ़ैसला करने की ताक़त वह अपने हाथों में ले सकता है। केवल उसकी नहीं बल्कि मानव मुक्ति का एकमात्र यही रास्ता है। मानव जाति के निवासस्थल – इस पृथ्वी को भी पूँजीवाद मुनाफ़े की हवस में इस क़दर तबाह कर रहा है कि शायद इस सदी के अन्त तक यह रहने लायक़ ही न रह जाये। इसलिए पृथ्वी पर मनुष्य के जीवन को बचाने के लिए लोभ-लाभ पर टिके सामाजिक ढाँचे को और लोभ-लाभ की संस्कृति को नष्ट करना होगा और यह काम केवल दुनिया के मज़दूर कर सकते

(पेज 10 पर जारी)

कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है? (तीसरी किस्त)

● आलोक रंजन

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

(गतांक से जारी)

ब्रिटिश उपनिवेशवादियों और कांग्रेस के बीच युद्धोत्तरकालीन समझौतों–सौदेबाज़ियों की पृष्ठभूमि विश्वयुद्ध के अन्तिम वर्ष के दौरान ही तैयार हो चुकी थी। मई, 1944 में गाँधी की रिहाई के बाद नये वायसराय वेवेल की मध्यस्थता में, पाकिस्तान के प्रश्न पर गाँधी और जिन्ना के बीच कई असफल वार्ताएँ हुईं। ब्रिटिश सत्ता ने दोनों पक्षों के बीच के मतभेदों को उग्र बनाने में अहम भूमिका निभायी। वेवेल केन्द्र में कांग्रेस और लीग की जो मिली–जुली अस्थायी सरकार का प्रस्ताव रख रहा था, उसका स्वरूप सारत: क्रिप्स मिशन के प्रस्ताव जैसा ही था। कांग्रेस ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया।

अगस्त 1942 के बाद कांग्रेस पर सरकारी दमन का मुस्लिम लीग ने भरपूर लाभ उठाया था। ब्रिटिश हुकूमत ने भी उसे भरपूर बढ़ावा दिया। असम, सिन्ध, बंगाल और पश्चिमोत्तर प्रान्त में लीग के मन्त्रिमण्डल सत्तारूढ़ हो चुके थे। पंजाब में यूनियनिस्ट पार्टी के नेता सिकन्दर हयात की मृत्यु के बाद जिन्ना के लिए वहाँ अपना प्रभाव बढ़ाना सुगम हो गया। पंजाब और बंगाल के मुसलमान किसानों से लीग वायदा कर रही थी कि पृथक पाकिस्तान में हिन्दू ज़मींदारों और बनियों का शोषण समाप्त हो जायेगा। लीग यह भी कहती थी कि हिन्दू व्यापारियों–उद्योगपतियों की प्रतिस्पर्द्धा से मुक्त होने के चलते पाकिस्तान में छोटे मुसलमान व्यावसायियों–उद्यमियों को तरक़्क़ी के मौक़े मिलेंगे और उदीयमान मुसलमान बुद्धिजीवियों को नौकरियों के बेहतर मौक़े मिलेंगे। इन वायदों ने संयुक्त प्रान्त और बम्बई प्रान्त के मुसलमान व्यावसायिक समूहों, राजनीतिज्ञों, बुद्धिजीवियों को विशेष रूप से आकर्षित किया। लीग को अब केवल मुसलमान ज़मींदारों–ताल्लुकदारों से ही नहीं बल्कि इस्पहानी और आदमजी व्यापारिक घरानों से भी मदद मिल रही थी। अप्रैल 1945 में 'फ़ेडरेशन ऑफ़ मुस्लिम चैम्बर्स ऑफ़ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री' की भी स्थापना हो चुकी थी। मुसलमानों में बड़े पूँजीपति नगण्य थे। और जो हिन्दू पूँजीपति और व्यापारी थे, उनमें से कुछ उदार हिन्दू (नरम साम्प्रदायिक) थे तो कुछ कट्टर पुनरुत्थानवादी और हिन्दूमहासभाई भी थे। इस स्थिति ने भी मुस्लिम अलगाववाद को बढ़ावा देने में एक भूमिका निभायी। इस तरह ब्रिटिश साम्राज्यवादी कुचक्र और जनान्दोलनों से भयाकुल होने के चलते हमेशा बातचीत और समझौते की नीति अपनाने के कांग्रेसी रवैये के चलते तथा भारतीय बुर्जुआ वर्ग और उसकी प्रतिनिधि राजनीतिक पार्टी कांग्रेस के भीतर जुझारू जनवादी मूल्यों और वास्तविक धर्मनिरपेक्षता के अभाव के कारण बीसवीं शताब्दी में साम्प्रदायिकता की जो राजनीति विकसित हुई, उसने 1945 तक आते–आते विभाजन की ज़मीन लगभग पूरी तरह से तैयार कर दी थी। मुस्लिम लीग की राजनीति को यहाँ तक पहुँचाने में निस्सन्देह हिन्दू महासभा, आर.एस.एस. जैसे कट्टरपन्थी हिन्दूवादी संगठनों ने भी अहम भूमिका निभायी थी। पाकिस्तान की माँग अब महज़ मोल–तोल का औज़ार नहीं थी। अब वह एक वास्तविक माँग बन चुकी थी। हालाँकि तब भी यह क़तई नहीं कहा जा सकता था कि आम मुसलमानों की बहुसंख्यक आबादी विभाजन की पक्षधर थी। ग़ौरतलब है कि मुसलमानों का अच्छा–ख़ासा हिस्सा कांग्रेस के भी साथ था और ग़रीब कामकाजी मुसलमानों के बीच कम्युनिस्टों का भी अच्छा–ख़ासा आधार था। आगे हम देखेंगे कि 1946 के चुनावों में अधिकांश आरक्षित मुस्लिम सीटें जीतकर मुस्लिम लीग ने मुसलमानों का एकमात्र प्रतिनिधि होने का दावा मज़बूती के साथ रखा और पाकिस्तान की माँग दृढ़ता के साथ पेश की। लेकिन याद रखें कि सार्विक मताधिकार पर आधारित नहीं होने के कारण आम मुसलमान आबादी का अत्यन्त छोटा हिस्सा ही उन चुनावों में मत दे सका था। दूसरे, पाकिस्तान या अपनी किसी भी माँग को लेकर लीग कभी भी कोई व्यापक जनान्दोलन खड़ा नहीं कर सकी थी।

जुलाई 1945 में इंग्लैण्ड में हुए आम चुनावों में लेबर पार्टी की विजय हुई। लेबर पार्टी के नेता भी किन्हीं अर्थों में टोरियों से कम साम्राज्यवादी नहीं थे। भारत छोड़ने का विचार उनके लिए भी दुखद था लेकिन वे इस बात को टोरियों से बेहतर समझते थे कि तत्कालीन अन्तरराष्ट्रीय और भारतीय राजनीतिक परिस्थितियों में उनके पास दूसरा कोई विकल्प नहीं है।

पहले अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों को लें। नाज़ी जर्मनी के ध्वंस और जापान के समर्पण के बाद पूरे पूर्वी यूरोप में कम्युनिस्टों के नेतृत्व या कम्युनिस्टों की भागीदारी वाली आमूल परिवर्तनवादी सत्ताएँ उभर रही थीं। ऐसी ताक़तें इटली और फ़्रांस में भी मज़बूत थीं। चीन और कोरिया में कम्युनिस्ट नेतृत्व में राष्ट्रीय जनवादी क्रान्तियाँ तेज़ी से जीत के निकट पहुँच रही थीं। वियतनाम और इण्डोनेशिया में फ़्रांसीसी और डच औपनिवेशिक सत्ताओं की पुनर्स्थापना के विरुद्ध उग्र जन प्रतिरोध जारी था। वियतनाम में भी राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष का नेतृत्व कम्युनिस्ट कर रहे थे और इण्डोनेशिया में वे दूसरी सबसे बड़ी ताक़त थे। यह पूरी स्थिति सिर्फ़ अंग्रेज़ों को ही नहीं बल्कि भारतीय पूँजीपति वर्ग और कांग्रेसी नेतृत्व को भी चिन्तित और भयभीत कर रही थी। अन्तरराष्ट्रीय पटल पर दूसरा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह हो रहा था कि साम्राज्यवादियों के चौधरी का स्थान अमेरिका लेने जा रहा था जिसने युद्ध में नगण्य नुक़सान उठाया था और बहुत अधिक लाभ कमाया था। ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था अस्त–व्यस्त हो चुकी थी। ब्रिटिश सेना और जनता युद्ध से थक चुकी थी। उपनिवेशों में उठते जनज्वार को बल–प्रयोग से रोक पाने की स्थिति में अब ब्रिटिश उपनिवेशवादी नहीं रह गये थे। अत: पीछे हटने का दबाव उन पर देश के भीतर से भी था और अमेरिका की ओर से भी।

अब भारत की राजनीतिक परिस्थितियों पर दृष्टि डालें। 1942 के जनविद्रोह, उसके बाद लगातार जारी प्रतिरोध संघर्षों (1943–45 के दौरान मज़दूरों–किसानों के जनसंघर्षों) तथा मध्यवर्ग, विशेषकर छात्रों–युवाओं–बुद्धिजीवियों के बीच बढ़ते जुझारू राष्ट्रवादी और वामपन्थी विचारों के प्रभाव के कारण यह स्पष्ट लग रहा था कि औपनिवेशिक शासन के दिन अब गिने–चुने ही रह गये हैं। अपनी अतीत की ग़लतियों के कारण कम्युनिस्ट राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करने की स्थिति में तो नहीं थे, पर चीन, वियतनाम, कोरिया, इण्डोनेशिया की स्थिति को देखते हुए यह भय बना हुआ था कि यदि कांग्रेस के साथ सत्ता–हस्तान्तरण के लिए वार्ताओं को आगे नहीं बढ़ाया गया तो जनता कांग्रेसी नेतृत्व के नियन्त्रण में नहीं रह जायेगी। वह क्रान्तिकारी ढंग से उपनिवेशवाद को उखाड़ फेंकने की दिशा में आगे बढ़ सकती है और इस प्रक्रिया में पहलक़दमी कम्युनिस्टों के हाथ में आ सकती है। इसी परिप्रेक्ष्य में ब्रिटेन में सत्तासीन हुई एटली की लेबर सरकार ने कांग्रेस के साथ बातचीत आगे बढ़ाने के लिए वायसराय वेवेल को निर्देश दिया। पर लेबर सरकार ने भी वार्ताओं की प्रक्रिया को धीमी गति से और काफ़ी सौदेबाज़ी करते हुए आगे बढ़ाया। इस धीमी प्रक्रिया के दौरान साम्प्रदायिक तनाव और बँटवारे की माँग ज़ोर पकड़ती गयी, जिसकी तार्किक परिणति आगे चलकर साम्प्रदायिक दंगों के भीषण विस्फोट और विभाजन के रूप में सामने आयी। ब्रिटिश उपनिवेशवादी चाहते भी यही थे। कांग्रेसी नेतृत्व विभाजन नहीं चाहता था, लेकिन जनसंघर्षों के हाथ से निकल जाने के भय से समझौते–सौदेबाज़ी की लम्बी प्रक्रिया से गुज़रना उसके सामने एकमात्र रास्ता था और इस रास्ते से चलते हुए वह उस मुक़ाम तक पहुँचने को अभिशप्त थी, जहाँ विभाजन को स्वीकारने के अतिरिक्त उसके सामने कोई चारा नहीं बचा।

आर्थिक–राजनीतिक दृष्टि से भारतीय पूँजीपति वर्ग युद्धोत्तर काल में इतना मज़बूत हो चुका था कि ब्रिटेन पर देश छोड़ने के लिए दबाव बना सके, पर जनसंघर्षों से डरने की अपनी प्रवृत्ति के चलते उसे समझौते से ही राजनीतिक स्वतन्त्रता हासिल करनी थी। ब्रिटिश आर्थिक हितों की सुरक्षा का आश्वासन देना और साम्राज्यवादी विश्व से असमानतापूर्ण शर्तों पर बँधे रहना उसकी वर्ग प्रकृति के सर्वथा अनुकूल था। युद्ध के दौरान भारत के औद्योगिक उत्पादन में भारी वृद्धि हुई थी। फ़ौजी आपूर्तियों के लिए प्राप्त भारी ऑर्डरों की बदौलत तथा युद्ध के दौरान आयात के अभाव के चलते देशी बाज़ार की माँग का भरपूर लाभ उठाकर भारतीय उद्योगपतियों ने काफ़ी पूँजी संचित की तथा शेयरों की ख़रीद के ज़रिये उन क्षेत्रों में भी प्रवेश किया (जैसे चाय बागान, जूट उद्योग आदि) जो अब तक ब्रिटिश पूँजी के अनन्य क्षेत्र थे। रसायन उद्योग (जैसे टाटा और इम्पीरियल केमिकल्स के बीच) और ऑटोमोबाइल (जैसे बिड़ला और एनफ़ील्ड के बीच) आदि क्षेत्रों में भारतीय शीर्ष उद्योगपति मिश्रित कम्पनियाँ बनाने लगे। टाटा, बिड़ला, डालमिया–जैन आदि भारतीय इज़ारेदार समूह ब्रिटिश इज़ारेदार समूहों के छोटे भागीदार बनने लगे। बड़ौदा, ग्वालियर, मैसूर, जयपुर आदि विकसित रियासतों में भारतीय बड़े पूँजीपतियों ने प्रवेश किया और इन इलाक़ों के शासक उनकी औद्योगिक कम्पनियों में हिस्सेदार बन गये। देश के प्रौद्योगिक पिछड़ेपन के कारण भारतीय पूँजीपति विदेशी बड़े पार्टनरों का मुँह जोहने को मजबूर थे, लेकिन उनके सामने अब कई विकल्प थे और बदली परिस्थितियों में प्रौद्योगिक एवं पूँजीगत सहायता कम कठिन शर्तों पर मिलने की उम्मीद थी। यही स्थिति आज़ादी के बाद स्पष्ट रूप में विकसित हुई, पर इसकी प्रक्रिया तो 1945 से ही शुरू हो चुकी थी। एक और महत्त्वपूर्ण बात यह हुई थी कि 1944–45 तक भारत द्वारा किये जाने वाले आयात का सबसे बड़ा स्रोत ब्रिटेन की जगह अमेरिका बन चुका था। भारत द्वारा आपूर्ति की जाने वाली युद्ध सामग्री के भुगतान के लिए ब्रिटेन द्वारा भारत के स्टर्लिंग ऋण पत्र लगातार ख़रीदे जाने के कारण भारत के स्टर्लिंग ऋण समाप्त हो गये। तात्कालिक तौर पर तो ये बड़े पैमाने पर भारतीय संसाधनों के हस्तान्तरण के बदले दिये गये वचन–पत्र मात्र ही थे, लेकिन 1947 के बाद भारत के विदेशी मुद्रा भण्डार को इनसे काफ़ी बल मिला। इस प्रकार ऋण के भुगतान के रूप में 'सम्पत्ति के दोहन' की औपनिवेशिक नीति के एक पारम्परिक घटक का 1944–45 तक ही ख़ात्मा हो चुका था। भारतीय बुर्जुआ वर्ग के युद्धकालीन आर्थिक शक्ति–संचय की चर्चा करते हुए यह बताना ज़रूरी है कि वास्तव में पूँजी की अधिकांश वृद्धि उत्पादन–क्षेत्र में न होकर लाभांशों में हुई, विशेषकर खाद्यान्नों की कालाबाज़ारी, सट्टेबाज़ी और शेयर बाज़ार की गतिविधियों द्वारा। मेधावी मार्क्सवादी इतिहासकार डी.डी. कोसम्बी ने 1946 में ही अपने एक लेख में ('दि बुर्जुआजी कम्स ऑफ़ एज इन इण्डिया', 'एक्ज़ास्परेटिंग एस्सेज़') में बताया था कि भारतीय बुर्जुआ वर्ग एक विशेष प्रकार का बुर्जुआ वर्ग था जो उत्पादन को बढ़ाने या उसकी क्षमता दर्शाने के बजाय सट्टेबाज़ी से अत्यधिक लगाव रखता था। भारतीय बुर्जुआ वर्ग की यही आर्थिक ताक़त और चारित्रिक कमज़ोरी आगे चलकर हमें राजनीतिक पटल पर सत्ता–हस्तान्तरण और संविधान–निर्माण की पूरी प्रक्रिया के दौरान कांग्रेसी नेतृत्व की नीति एवं व्यवहार में प्रतिबिम्बित होती दीखती है।

सत्तासीन होने के बाद ब्रिटेन की लेबर सरकार ने सितम्बर, 1945 में लन्दन और दिल्ली में एक साथ अपनी भारत–विषयक नीति की पहली घोषणा की। उसमें कहा गया था कि क्रिप्स मिशन के प्रस्तावों को अमल में लाते हुए 1945–46 की सर्दियों में केन्द्रीय और प्रान्तीय विधानमण्डलों के चुनाव कराये जायेंगे। यह घोषणा जनता और बुर्जुआ राजनीतिक नेतृत्व दोनों को ही मायूस करने वाली थी। क्रिप्स मिशन के प्रस्ताव तो कांग्रेस पहले ही ठुकरा चुकी थी। लेकिन जल्दी ही उपनिवेशवाद–विरोधी जन–उभारों की नयी लहर ने ब्रिटिश योजनाओं में संशोधन और उनके अमल में तेज़ी लाने की स्थिति पैदा कर दी।

1945 के मध्य में मज़दूर हड़तालों की एक नयी देशव्यापी लहर आयी। ज़्यादा से ज़्यादा राजनीतिक होते जाना इस लहर की विशेषता थी। मज़दूर हड़तालें छात्रों और अन्य मेहनतकश समुदायों के राजनीतिक संघर्षों–प्रदर्शनों के साथ जुड़ती जा रही थीं। ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस (एटक) जनवरी 1945 में मद्रास में हुए 21वें अधिवेशन में ही राष्ट्रीय स्वाधीनता का प्रस्ताव पारित कर चुकी थी। परिस्थितियों ने ट्रेड यूनियन संगठनों के भीतर विभिन्न राजनीतिक गुटों के बीच, कुछ ही समय के लिए सही, लेकिन एकता क़ायम कर दी थी। 1945 के उत्तरार्द्ध में हड़तालें और प्रदर्शन सेना और पुलिस के साथ सशस्त्र झड़पों और टकरावों की शक्ल लेने लगे थे। इस जुझारू जन एकता को तोड़ने के लिए साम्राज्यवादी साम्प्रदायिक दंगे भड़काने की साज़िशें रचते थे। बम्बई में सफल होने के बाद उन्होंने अपनी कोशिशें और तेज़ कर दीं और मुस्लिम लीग की राजनीति इसमें मददगार भी बनी, लेकिन, फिर भी जुझारू जनान्दोलनों का दबाव ब्रिटिश उपनिवेशवादियों पर बढ़ता गया।

अक्टूबर 1945 से लेकर फ़रवरी 1946 के बीच घटी कुछ घटनाओं ने ऐसा व्यापक जन–दबाव निर्मित किया कि ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को अपनी नीतियों में कुछ बुनियादी बदलाव के लिए विवश होना पड़ा। उग्र देशव्यापी जन–उभार ने एक ओर जहाँ कांग्रेसी नेतृत्व को भयभीत किया, वही इसका लाभ उठाकर उन्होंने सत्ता–हस्तान्तरण के लिए ब्रिटिश उपनिवेशवादियों पर दबाव बढ़ा दिया। इस विस्फोटक दौर को वेवेल के जर्नल के सम्पादक पेण्डरले मून ने बिल्कुल सटीक ढंग से 'ज्वालामुखी के कगार' की संज्ञा दी है।

इस विस्फोटक स्थिति का पहला कारक उपादान अंग्रेज़ों द्वारा आज़ाद हिन्द फ़ौज के 20,000 फ़ौजियों पर सार्वजनिक मुक़दमा चलाने का मूर्खतापूर्ण निर्णय था। साथ ही, कम से कम 7000 को नौकरी से निकालकर बिना मुक़दमा चलाये हिरासत में रखा गया। तुर्रा यह कि ऐसा पहला मुक़दमा लाल क़िले में चला जिसमें आज़ाद हिन्द फ़ौज के एक हिन्दू, एक मुसलमान और एक सिख अफ़सर को एक साथ कठघरे में खड़ा किया गया। इससे जनता में जो तीव्र भावनात्मक लहर फैली, उसने कुछ समय के लिए साम्प्रदायिक अलगाव

(पेज 8 पर जारी)

अन्तरराष्ट्रीय मज़दूर दिवस पर पूँजी की सत्ता के

पूर्वी प्रदेश में मज़दूर आन्दोलन की नयी लहर का संकेत था गोरखपुर का मई दिवस

गोरखपुर में पिछले वर्ष महीनों चला मज़दूर आन्दोलन कोई एकाकी घटना नहीं थी, बल्कि पूर्वी उत्तर प्रदेश में उठती मज़दूर आन्दोलन की नयी लहर की शुरुआत थी। आन्दोलन के ख़त्म होने के बाद बहुत से मज़दूर अलग-अलग कारख़ानों या इलाक़ों में भले ही बिखर गये हों, मज़दूरों के संगठित होने की प्रक्रिया बिखरी नहीं बल्कि दिन-ब-दिन मज़बूत होकर आगे बढ़ रही है। इस बार गोरखपुर में अन्तरराष्ट्रीय मज़दूर दिवस के आयोजन में भारी पैमाने पर मज़दूरों की भागीदारी ने यह संकेत दे दिया कि पूर्वी उत्तर प्रदेश का मज़दूर अब अपने जानलेवा शोषण और बर्बर उत्पीड़न के ख़िलाफ़ जाग रहा है।

यूँ तो विभिन्न संशोधनवादी पार्टियों और यूनियनों की ओर से हर साल मज़दूर दिवस मनाया जाता है लेकिन वह बस एक अनुष्ठान होकर रह गया है। मगर **बिगुल मज़दूर दस्ता** की अगुवाई में इस बार गोरखपुर में मई दिवस मज़दूरों की जुझारू राजनीतिक चेतना का प्रतीक बन गया।

गोरखपुर, बरगदवाँ और गीडा औद्योगिक क्षेत्र के 1500 से अधिक मज़दूरों ने एकजुट होकर पहली मई को अन्तरराष्ट्रीय मज़दूर दिवस के अवसर पर आम हड़ताल की और जुलूस निकाला। मज़दूर सुबह आठ बजे से ही अपने-अपने कारख़ाना गेटों पर जमा होने लगे। पूर्व निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार सैकड़ों मज़दूर बरगदवाँ भगवानपुर की फ़ैक्ट्रियों और मज़दूर बस्तियों से नारे लगाते हुए निकले और गोरखनाथ, तरंग चौराहा, जटाशंकर चौक, गोलघर होते हुए दिन के 1 बजे नगर निगम मैदान पर पहुँचे, जहाँ जुलूस सभा में तब्दील हो गया। जटाशंकर चौराहे पर गोरखपुर औद्योगिक विकास प्राधिकरण (गीडा) से आया 250 मज़दूरों का साइकिल जुलूस और अखिल भारतीय नेपाली एकता मंच के कार्यकर्ता भी इसमें शामिल हो गये। गीडा के मज़दूरों में भी मई दिवस को लेकर ख़ासा उत्साह था। वे भारी संख्या में जुटे और सबसे पहले उन्होंने गीडा औद्योगिक क्षेत्र में जुलूस निकाला। उसके बाद वे सभी 25 किमी. तक साइकिल चलाते हुए जटाशंकर चौक तक पहुँचे। मज़दूरों के हाथों में लाल झण्डे थे और माथे पर लाल पट्टियाँ बँधी हुई थीं। वे 'दुनिया के मज़दूरो एक हो', 'मई दिवस के शहीद अमर रहें', 'मई दिवस अमर रहे,' 'पूँजीवाद हो बरबाद,' 'इन्क़लाब ज़िन्दाबाद' के नारे लगा रहे थे। उनके हाथों में नारे लिखी तख्तियाँ थीं। जुलूस में सबसे आगे 'मई दिवस अमर रहे' लिखा लाल बैनर चल रहा था। उससे कुछ दूरी पर एक बड़े से चौकोर लाल बैनर पर मज़दूरों की पाँच माँगें लिखी थीं –

1. **पूँजीपतियो, पर्यावरण का विनाश बन्द करो!**
2. **शहरी बेरोज़गारों को रोज़गार की गारण्टी दो!**
3. **ठेका प्रथा समाप्त करो!**
4. **श्रम क़ानून लागू करो।**
5. **ग़रीब किसान और मज़दूर विरोधी नीतियों को वापस लो!**

गोरखपुर शहर की सड़कों से गुज़रते हुए टाउनहाल की ओर बढ़ता मज़दूरों का जुलूस

इस तरह गोरखपुर के मज़दूरों ने जता दिया कि उनकी लड़ाई सिर्फ़ बोनस भत्तों के लिए ही नहीं है वरन उससे आगे के संघर्षों के बारे में भी वे तैयारी कर रहे हैं। टाउनहाल में दोपहर 1 बजे से शुरू हुई सभा शाम 5 बजे तक चली और इस दौरान कोई मज़दूर वहाँ से हिला तक नहीं। ज़्यादातर मज़दूर सुबह आठ बजे से घरों से निकले थे लेकिन सभा ख़त्म होने के बाद ही सबने खाना खाया।

सभा को सम्बोधित करते हुए **बिगुल मज़दूर दस्ता** के कार्यकर्ता **प्रशान्त** जो **टेक्सटाइल वर्कर्स यूनियन** के अध्यक्ष भी हैं, ने मई दिवस के जन्म और उसकी क्रान्तिकारी विरासत के बारे में विस्तार से चर्चा की। उन्होंने बताया कि 1886 के शिकागो के मज़दूरों का 'काम के घण्टे आठ करो' का नारा पूरे विश्व मज़दूर आन्दोलन का नारा बन गया। इसने पहली बार पूरी दुनिया के मज़दूरों को एकजुट होकर अपने-अपने देश की पूँजीवादी सरकारों के ख़िलाफ़ लड़ने का रास्ता दिखाया। मज़दूरों में पहली बार यह भावना जागृत हुई कि वे अलग-अलग अपने-अपने कारख़ानेदारों से लड़ते हुए, अपने हालात नहीं सुधार सकते।

टेक्सटाइल वर्कर्स यूनियन के सचिव और **बिगुल मज़दूर दस्ता** के कार्यकर्ता **तपीश** ने कहा कि मज़दूरों को यह बात साफ़ तौर पर समझ लेनी होगी कि अकूत कुर्बानियों के बाद बने श्रम क़ानूनों को पूँजीवादी सरकारें लागू नहीं करना चाहती हैं। उल्टे मज़दूर अधिकारों में लगातार कटौती की जा रही है। आज से क़रीब सवा सौ साल पहले चले संघर्षों के बाद आज हालत यह हो गयी है कि यदि मज़दूर अपना ख़ून बहाकर कुछ क़ानून अपने पक्ष में बनवा भी लेते हैं तो पूँजीवादी सरकारों का शासन-प्रशासन उसे कभी भी लागू नहीं होने देगा। उन्होंने कहा कि 1886 में शिकागो के मज़दूर सिर्फ़ अपने वेतन-भत्ते बढ़वाने के लिए नहीं लड़ रहे थे। वे पूँजी की ग़ुलामी से आज़ादी के लिए लड़ रहे थे। आज के मज़दूरों का यह फ़र्ज़ बनता है कि वे श्रम क़ानूनों को लागू करने की माँग उठाते हुए यह याद रखें कि उनका ऐतिहासिक मिशन पूँजीवाद को ख़त्म करके एक ऐसी समाज व्यवस्था क़ायम करना है जिसमें उत्पादन, राज-काज और समाज के पूरे ढाँचे पर मेहनतकशों का नियन्त्रण हो।

क्रान्तिकारी बिरहा पेश करती देहाती मज़दूर यूनियन की टोली

नौजवान भारत सभा के **प्रमोद** ने मज़दूरों द्वारा मई दिवस के मौक़े पर उठायी गयी पाँचों माँगों का पुरज़ोर समर्थन किया। उन्होंने कहा कि पूँजीपति वर्ग अपने मुनाफ़े की हवस में पर्यावरण को तबाह करने में लगा है। पूँजीवाद सिर्फ़ मज़दूरों का ही नहीं वरन पूरी मानवता और इस धरती का दुश्मन बन बैठा है। उन्होंने कहा कि शहरी बेरोज़गारों को रोज़गार गारण्टी की माँग एक अन्य महत्त्वपूर्ण माँग है। पूँजीपति चाहते हैं कि उनके कारख़ाना गेटों पर बेरोज़गारों की भीड़ हमेशा मौजूद रहे जिसका फ़ायदा उठाकर वे मनमाफ़िक मज़दूरी पर मज़दूरों को निचोड़ सकें। प्रमोद ने कहा कि मज़दूरों को अपनी राजनीतिक माँगें उठाकर व्यापक पैमाने पर निम्न मध्य वर्ग, ग़रीब किसान, बेरोज़गारों और समाज के सभी दबे-कुचले तबकों को अपने साथ मिलाने की कोशिश करनी चाहिए।

अखिल भारत नेपाली एकता मंच के **एम.पी. शर्मा** और **अविनाश** ने भी मज़दूरों को सम्बोधित किया। नेपाल के उदाहरण से उन्होंने बताया कि दुनिया के सभी दबे-कुचलों, मज़दूरों और तबाह होते किसानों की मुक्ति के परचम का रंग केवल लाल है। जब भी जनता ने अपनी मुक्ति का झण्डा उठाया है पुराने शासक वर्ग ने उसे हर तरीक़े से कुचलने की कोशिश की है।

विभिन्न कारख़ानों के अगुआ मज़दूरों ने भी सभा को सम्बोधित किया। सभी मज़दूर वक्ताओं ने बरगदवाँ और गीडा औद्योगिक क्षेत्र की एकजुटता की ओर बढ़े पहले क़दम का स्वागत किया। उन्होंने इलाक़ाई आधार पर अपनी एकजुटता को मज़बूत करने की बात की और मई दिवस की क्रान्तिकारी भावना को अपनाने पर ज़ोर दिया।

मई दिवस के आयोजन को सफल बनाने के लिए **बिगुल मज़दूर दस्ता** की अगुवाई में **टेक्सटाइल वर्कर्स यूनियन**, **लारी प्रोसेस हाउस, गीडा, इंजीनियरिंग वर्कर्स यूनियन** और **नौजवान भारत सभा** के कार्यकर्ताओं ने सघन तैयारियाँ कीं। छोटी-छोटी प्रचार टोलियाँ बनाकर कारख़ाना गेटों, मुहल्ला बस्तियों, नुक्कड़ चौराहों, रेलवे वर्कशापों पर 15000 पर्चे बाँटे गये और 2000 पोस्टर चिपकाये गये। 28 अप्रैल को गीडा ग्राउण्ड जुडियान, और 29 अप्रैल को बरगदवाँ गाँव, में जहाँ मज़दूरों की भारी आबादी रहती है, मर्यादपुर से आयी **देहाती मज़दूर यूनियन** की टोली ने क्रान्तिकारी बिरहा और गीतों की प्रस्तुति की। इन आयोजनों में हज़ारों मज़दूरों ने परिवार सहित शिरकत की। मई दिवस और मज़दूर आन्दोलन से सम्बन्धित साहित्य भी मज़दूरों ने ख़ूब ख़रीदा और पढ़ा।

लम्बे अरसे बाद गोरखपुर में इतने बड़े पैमाने पर हुए पहली मई के आयोजन के प्रति व्यापक मज़दूर आबादी में जहाँ भारी उत्सुकता था, वहीं इलाक़े के पूँजीपतियों में उससे अधिक बेचैनी दिखायी पड़ी। जालान सरिया और बर्तन फ़ैक्ट्री के मालिकान ने अपने मज़दूरों को सुबह पाँच बजे ही काम पर बुला लिया, ताकि वे जुलूस में शामिल न हो सकें। उन्होंने अपने फ़ैक्ट्री गेट पर पर्चा तक नहीं बँटने दिया। जिस दिन पर्चा बाँटा जा रहा था उस दिन सभी मज़दूरों को पीछे के गेट से निकाल दिया गया। गीडा के मज़दूरों ने जब अपने औद्योगिक क्षेत्र में नारे लगाते हुए जुलूस निकाला तो कई मज़दूर काम बन्द कर अपने-अपने कारख़ाना गेटों-खिड़कियों पर इकट्ठा होकर जुलूस देखने लगे। बहुतों ने उसके समर्थन में नारे भी लगाये। अंकुर उद्योग के मालिक ने मज़दूरों को रोकने के लिए 1 मई को ई.एल. का भुगतान करने का नोटिस लगवा दिया। मगर मज़दूरों ने मालिक के षड्यन्त्र को भाँप लिया और एकजुट होकर इसका विरोध किया, बाद में अंकुर के मैनेजमेण्ट को अपना नोटिस वापस लेना पड़ा।●

टाउनहाल की सभा में जोशो-ख़रोश के साथ नारे लगाते मज़दूर

ख़िलाफ़ लड़ने का संकल्प लिया मज़दूरों ने

दिल्ली में शहरी रोज़गार गारण्टी की माँग को लेकर मज़दूरों ने संसद पर दस्तक दी

शहरी रोज़गार गारण्टी अभियान के तहत लगभग डेढ़ हज़ार मज़दूर, छात्र, युवा और शहरी बेरोज़गारों ने मई दिवस के दिन दिल्ली में जन्तर-मन्तर पर ज़बर्दस्त प्रदर्शन किया और हज़ारों हस्ताक्षरों के साथ एक माँगपत्रक प्रधानमन्त्री को सौंपा। **बिगुल मज़दूर दस्ता, स्त्री मज़दूर संगठन, दिशा छात्र संगठन, नौजवान भारत सभा, स्त्री मुक्ति लीग** एवं अन्य जनसंगठन **राष्ट्रीय शहरी रोज़गार गारण्टी क़ानून** की माँग पर पिछले कई माह से दिल्ली, पंजाब, उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल और महाराष्ट्र सहित देश के विभिन्न हिस्सों में अभियान चला रहे हैं। अभियान की मुख्य माँग यह है कि भारत सरकार शहरी ग़रीबों और बेरोज़गारों के लिए नरेगा की तर्ज़ पर क़ानून बनाकर साल में कम से कम 200 दिन के रोज़गार की गारण्टी करे।

प्रधानमन्त्री को सौंपे गये पाँचसूत्री माँगपत्रक की माँगें इस प्रकार हैं – 1. नरेगा की तर्ज़ पर शहरी बेरोज़गारों के लिए अविलम्ब शहरी रोज़गार गारण्टी योजना बनाकर लागू की जाये। 2. शहरी बेरोज़गारों को साल में से कम से कम 200 दिनों का रोज़गार दिया जाये। 3. योजना में मिलने वाले काम पर न्यूनतम मज़दूरी के मानकों के अनुसार भुगतान किया जाये। 4. रोज़गार न दे पाने की सूरत में जीविकोपार्जन के न्यूनतम स्तर के लिए पर्याप्त बेरोज़गारी भत्ता दिया जाये। 5. योजना को पूरे भारत में लागू किया जाये।

दिल्ली के विभिन्न इलाक़ों, नोएडा, गाज़ियाबाद, लखनऊ, गोरखपुर, पंजाब तथा हरियाणा से आये प्रदर्शनकारियों को सम्बोधित करते हुए **राष्ट्रीय शहरी रोज़गार गारण्टी क़ानून के लिए अभियान** के संयोजक **अभिनव सिन्हा** ने कहा कि रोज़गार के अधिकार को भारत के नागरिकों के मौलिक अधिकार के रूप में मान्यता मिलनी चाहिए। राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार गारण्टी क़ानून में, स्वतन्त्रता के बाद सरकार ने कम से कम कागज़ पर पहली बार यह माना है कि ग्रामीण ग़रीबों और बेरोज़गारों को रोज़गार प्रदान करना राज्य की ज़िम्मेदारी है। सब जानते हैं कि नरेगा में भारी भ्रष्टाचार है और 100 दिन का रोज़गार गुज़ारे के लिए नाकाफ़ी है। नरेगा के बेहतर कार्यान्वयन के लिए और इसमें 200 दिन के रोज़गार के लिए संघर्ष करने के साथ ही हमें इस तथ्य पर भी ज़ोर देना है कि शहरी ग़रीब और बेरोज़गार भी इस प्रकार की रोज़गार गारण्टी के बराबर के हक़दार हैं, ख़ासकर इसलिए कि शहरों में बेरोज़गारी गाँवों के मुक़ाबले अधिक तेज़ी से बढ़ रही है। इसके अलावा, शहरी ग़रीब अधिक असुरक्षित हैं, क्योंकि उनमें 10 में से 9 प्रवासी हैं।

नौजवान भारत सभा, दिल्ली इकाई के संयोजक **आशीष** ने कहा कि ग्रामीण भारत में बेरोज़गारी की दर 7 फ़ीसदी है, जबकि शहरों में यह 10 फ़ीसदी से अधिक है; शहरों में काम करने योग्य प्रत्येक 1000 लोगों में से सिर्फ़ 337 के पास रोज़गार है, गाँवों में यह संख्या 417 है। शहरी भारत में 60 फ़ीसदी युवा बेरोज़गार हैं, जबकि ग्रामीण भारत में 45 फ़ीसदी युवा बेरोज़गार हैं। इसके अलावा, शहरों में लगभग 90 फ़ीसदी मज़दूर दिहाड़ी पर या ठेके पर काम करते हैं, जो अक्सर वर्ष में काफ़ी समय तक बेरोज़गार रहते हैं। यदि बेरोज़गारों और अर्द्ध-बेरोज़गारों की कुल संख्या जोड़ी जाये, तो साफ़ हो जायेगा कि भारत की 85 प्रतिशत शहरी जनसंख्या को अपनी आजीविका चलाने के लिए गारण्टीशुदा काम की आवश्यकता है।

बिगुल मज़दूर दस्ता के **अजय** ने कहा कि मज़दूर वर्ग की बुनियादी और तात्कालिक माँग है कि शहरी रोज़गार गारण्टी क़ानून का मसौदा बनाया जाये और उसे लागू किया जाये। लेकिन हमें यह भी समझ लेना होगा कि शहरी रोज़गार की गारण्टी के लिए कोई क़ानून मात्र बना देने से शहरी बेरोज़गारों की करोड़ों की आबादी के जीवन स्तर पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा। ईमानदारी से लागू करने पर भी, अधिक से अधिक यह केवल तात्कालिक राहत ही दे सकेगा। बेरोज़गारी की समस्या के स्थायी समाधान के लिए ज़रूरी है कि मुनाफ़े पर टिकी व्यवस्था को बदला जाये।

दिल्ली के जन्तर-मन्तर पर मई दिवस के दिन हुए प्रदर्शन में भाग लेते मज़दूर, छात्र-युवा और मेहनतकश स्त्रियाँ

दिशा छात्र संगठन की चण्डीगढ़ इकाई के **राजिन्दर** ने कहा कि पंजाब में, और विशेषकर लुधियाना जैसे औद्योगिक शहरों में शहरी आबादी में ग़रीबी बहुत अधिक फैली हुई है। बिहार और उत्तर प्रदेश से आने वाले प्रवासी मज़दूर बेहद ग़रीबी और अभाव में जीते हैं। आये दिन उन्हें काम से निकाल दिये जाने की समस्या से जूझना पड़ता है। शहरी रोज़गार गारण्टी का क़ानून बनने से इन मज़दूरों को कुछ सुरक्षा मिलेगी।

स्त्री मुक्ति लीग की **शिवानी** ने कहा कि शहरी महिलाओं को ऐसे क़ानून की सख़्त ज़रूरत है। उन्होंने कहा, "हमने माँग की है कि शहरी ग़रीबों को न्यूनतम मज़दूरी दी जाये और 200 दिन के रोज़गार की गारण्टी की जाये, जिसका अर्थ है कि योजना के तहत रोज़गार पाने वाले पुरुषों और महिलाओं को बराबर मज़दूरी मिलेगी। ऐसा क़ानून होने पर महिलाओं को, विशेषकर शहरों की स्त्री मज़दूरों को सुरक्षा मिलेगी क्योंकि मालिकों या ठेकेदारों के हाथों उत्पीड़न और क्रूरता का शिकार होने वाली ज़्यादातर स्त्रियाँ ठेके या दिहाड़ी पर काम करती हैं।

दिशा छात्र संगठन की दिल्ली इकाई के सदस्य, **शिवार्थ** ने कहा कि यदि ग़रीबी दूर करने का यूपीए और प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह का दावा एक फ़रेब नहीं है, तो उन्हें सरकार के इसी कार्यकाल में ऐसा बिल पेश करना चाहिए और उसे संसद में पारित करवाना चाहिए।

जागरूक नागरिक मंच, दिल्ली के संयोजक **सत्यम** ने कहा कि शहरी रोज़गार की माँग विशेष रूप से शहरी ग़रीबों, मज़दूरों और बेरोज़गार युवाओं के लिए ज़रूरी है। सरकार को संविधान में संशोधन करके रोज़गार के अधिकार को एक बुनियादी अधिकार का दर्जा देना चाहिए। उन्होंने कहा कि 'जागरूक नागरिक मंच' की तरफ़ से इस माँग के समर्थन में शहरी नागरिकों, पत्रकारों, बुद्धिजीवियों आदि के बीच अभियान चलाया जा रहा है और यह माँग पूरी होने तक इसके पक्ष में जनमत तैयार करने का काम जारी रहेगा।

बादाम मज़दूर यूनियन, करावल नगर के **कपिल** ने कहा कि मज़दूरों को किसी के भरोसे नहीं रहना होगा, उन्हें अपनी लड़ाई ख़ुद लड़नी होगी। **कल्याणकारी रिक्शा ठेली मज़दूर समिति** और **हाथ ठेला यूनियन** की ओर से महेन्द्र पासवान ने भी इस अभियान का समर्थन किया।

विभिन्न वक्ताओं ने अभियान की माँगों के साथ-साथ अन्तरराष्ट्रीय मज़दूर दिवस के महत्त्व के बारे में भी बताया। दिशा छात्र संगठन की सांस्कृतिक टीम ने इस प्रदर्शन के दौरान कई क्रान्तिकारी गीतों की प्रस्तुति की। प्रधानमन्त्री कार्यालय को देश के विभिन्न राज्यों में कराये गये 25 हज़ार से अधिक हस्ताक्षरों से युक्त माँगपत्रक सौंपने के साथ प्रदर्शन समाप्त हुआ।

कारख़ाना मज़दूर यूनियन, लुधियाना ने चलाया मई दिवस अभियान

लुधियाना में कारख़ाना मज़दूर यूनियन द्वारा अन्तरराष्ट्रीय मज़दूर दिवस के अवसर पर मज़दूरों की क्रान्तिकारी विरासत को मज़दूरों तक पहुँचाने के लिए 20 अप्रैल से लेकर पहली मई तक नुक्कड़ सभाओं, झण्डा मार्चों, लॉजों में मीटिंगों का अभियान चलाया गया। मई दिवस अभियान मुख्य तौर पर गयासपुरा, किशोर नगर, ई.डब्ल्यू.एस. कालोनी, किरती नगर आदि इलाक़ों में चला।

मई दिवस अभियान के लिए यूनियन ने "मई दिवस के क्रान्तिकारी पथ पर आगे बढ़ो, पूँजीपतियों द्वारा लूट, दमन, अन्याय के ख़िलाफ़ निर्णायक संघर्ष के लिए आगे आओ" शीर्षक से एक पर्चा बड़े पैमाने पर लुधियाना के मज़दूरों तक पहुँचाया। पर्चे के ज़रिये मज़दूरों को मौजूदा समय की चुनौतियों को क़बूल करने और मई दिवस के क्रान्तिकारी इतिहास से प्रेरणा लेकर पूँजीपति वर्ग की ग़ुलामी से मुक्ति के महासंग्राम को कामयाबी तक पहुँचाने के लिए जी-जान लगा देने का आह्वान किया गया।

अनेक नुक्कड़ सभाओं में कारख़ाना मज़दूर यूनियन की सांस्कृतिक टीम द्वारा किशनचन्दर की कहानी पर आधारित व्यंग्यात्मक नुक्कड़ नाटक 'गड्ढा' का मंचन किया गया जिसमें एक मज़दूर की कहानी पेश की गयी, जो ग़रीबी, कंगाली के गड्ढे में गिरा चीख़-चीख़कर कह रहा है कि उसे कोई वहाँ से बाहर निकाले। नेता, धार्मिक बाबा, सरकारी अफ़सर, पत्रकार, पुलिस के पात्रों के साथ गड्ढे में गिरे मज़दूर की बातचीत के ज़रिये दिखाया गया कि मौजूदा व्यवस्था से मज़दूर वर्ग को कोई उम्मीद नहीं रखनी चाहिए।

पहली मई को दो इलाक़ों में कारख़ाना मज़दूर यूनियन द्वारा लाल झण्डे फहराते हुए पैदल मार्च किया गया। एक मार्च ई.डब्ल्यू.एस. कालोनी से शुरू होकर, ताजपुर रोड होते हुए बस्ती चौक तक निकाला गया। 'मई दिवस के शहीद अमर रहें', 'दुनिया के मज़दूरो एक हो', 'हर ज़ोर-ज़ुल्म की टक्कर में संघर्ष हमारा नारा है', 'ख़त्म करो पूँजी का राज, लड़ो बनाओ लोक-स्वराज' आदि गगनभेदी नारे बुलन्द करते हुए, लोगों में पर्चा वितरत करते हुए, कारख़ाना मज़दूर यूनियन के सदस्यों ने मई दिवस के शहीदों की याद को ताज़ा किया और उनके संघर्ष को आगे बढ़ाने का आह्वान किया। दूसरा जुलूस गयासपुरा में निकाला गया। मान नगर (ढाबा रोड) से शुरू होकर तालाब से होते हुए लक्ष्मण नगर, अम्बेडकर नगर और पीपल चौक से होते कारख़ाना मज़दूर यूनियन के सदस्यों का यह क़ाफ़िला प्रेम नगर पहुँचा।

नुक्कड़ सभाओं के दौरान **कारख़ाना मज़दूर यूनियन** के **लखविन्दर** ने कहा कि आज मज़दूरों को हासिल नाममात्र के हक़-अधिकार छीने जा रहे हैं। पूँजीपति वर्ग मज़दूर वर्ग से संगठित होने और अपने हक़ की आवाज़ बुलन्द करने का अधिकार भी छीन रहा है। उन्होंने कहा कि मई दिवस का यह सन्देश हर मज़दूर के ज़ेहन में उतारने की ज़रूरत है कि मज़दूरों को आज तक बिना लड़े कुछ भी नहीं मिला। शोषक वर्ग से हमें किसी भी तरह की रहमदिली की उम्मीद नहीं करनी चाहिए और अपने हक़-अधिकार एकजुट संघर्ष के ज़रिये हासिल करने के लिए आगे आना चाहिए। उन्होंने कहा कि अन्तरराष्ट्रीय मज़दूर दिवस की गौरवमयी क्रान्तिकारी विरासत को हर मज़दूर तक पहुँचाना होगा। उन्होंने कहा कि अपनी क्रान्तिकारी विरासत को आत्मसात करके ही मज़दूर वर्ग पूँजीपति वर्ग पर विजय प्राप्त कर सकता है।

– बिगुल संवाददाता

कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है?

(पेज 5 से आगे)

की दीवारों को गिरा दिया। मुस्लिम लीग भी इस व्यापक जनान्दोलन का समर्थन करने को विवश हो गयी। सुभाष चन्द्र बोस की राजनीति और सामरिक नीति की विसंगतियाँ चाहे जो भी रही हों, आज़ाद हिन्द फ़ौज के मुक़दमे अब एक साम्राज्यवाद विरोधी भावनात्मक मुद्दा बन चुके थे। महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि आज़ाद हिन्द फ़ौज की देशभक्तिपूर्ण शौर्य की भावना तेज़ी से सेना में भी फैलती जा रही थी (जनवरी 1946 में आज़ाद हिन्द फ़ौज के रिहा किये गये कुछ सैनिकों के स्वागत समारोह में भारतीय सेना के बहुत सारे सिपाही वर्दी पहनकर शामिल हुए थे)।

एक और मुद्दा यह था कि दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों – विशेषकर वियतनाम और इण्डोनेशिया में फ़्रांसीसी और डच औपनिवेशिक शासन को बहाल करने के लिए और राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन को कुचलने के लिए ब्रिटेन द्वारा भारतीय सेना का उपयोग किया जा रहा था। इससे शहरी मध्यवर्गीय और मज़दूर जनता के साथ ही सेना के भीतर भी गम्भीर विक्षोभ फैल गया, जो साम्राज्यवाद विरोधी चेतना के प्रचण्ड उभार का एक द्योतक था। इसके विरोध में देशव्यापी प्रदर्शन हुए। गोदी मज़दूरों ने इण्डोनेशिया को फ़ौजी सामान ले जाने वाले जहाज़ों में माल लादने से इन्कार कर दिया और 25 अक्टूबर 1945 को पूरे देश में 'इण्डोनेशिया दिवस' मनाया गया। कम्युनिस्ट पार्टी और जनसंगठनों के अतिरिक्त कांग्रेस और लीग ने भी इस जनान्दोलन का समर्थन किया।

ब्रिटिश उपनिवेशवादी इस साम्राज्यवाद-विरोधी लहर से तथा साम्प्रदायिक आधार पर देश के विभाजन के अपने षड्यन्त्र को विफल होते देख घबरा उठे। लीग को भी स्वयं के अप्रासंगिक हो जाने का भय सताने लगा। अंग्रेज़ों को लगने लगा कि यदि कांग्रेस फिर से 1942 जैसे देशव्यापी आन्दोलन का आह्वान कर दे तो उसमें व्यापक मज़दूर-किसान आबादी के अतिरिक्त शहरी मध्यवर्गीय आबादी, असन्तुष्ट सैनिक और फ़ौजी अनुभव रखने वाले आज़ाद हिन्द फ़ौज के सैनिक भी शामिल हो जायेंगे। कम्युनिस्ट पार्टी भी तब उसमें पूरी ताक़त से शामिल हो जायेगी। तब स्थिति उनके हाथ से एकदम निकल जायेगी। लेकिन जल्दी ही उन्होंने समझ लिया कि दूरन्देश कांग्रेसी नेता ऐसा क़तई नहीं करेंगे। वे समझ गये कि 1942 के नायकों-शहीदों को और आज़ाद हिन्द फ़ौज के सिपाहियों को महिमामण्डित करने वाले कांग्रेसियों के उग्र भाषण महज़ चुनावी लोकलुभावन पैंतरेबाज़ियाँ हैं। बात तब और स्पष्ट हो गयी जब कांग्रेस ने कम्युनिस्टों के विरुद्ध ज़बर्दस्त अभियान चलाया जिसमें "वामपन्थी" लच्छेदार जुमलेबाज़ी करने वाले नेहरू की अग्रणी भूमिका थी। जगह-जगह कम्युनिस्टों पर हमले भी हुए। बम्बई में नेहरू के भाषण से उत्तेजित भीड़ ने कम्युनिस्ट पार्टी मुख्यालय पर धावा बोल दिया। इसकी चरम परिणति यह हुई कि 5 अक्टूबर को कांग्रेस से कम्युनिस्ट पार्टी सदस्यों ने इस्तीफ़ा दे दिया और दिसम्बर में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी से सभी कम्युनिस्टों को निकाल दिया गया। 1945 के अन्त तक कांग्रेस को जुझारू राष्ट्रवादी और आमूल परिवर्तनवादी लहर में बहने से बचाने के लिए बिड़ला आदि पूँजीपति और पार्टी के भीतर के पटेल, राजेन्द्र प्रसाद, भूलाभाई देसाई, टण्डन आदि दक्षिणपन्थी धड़े के अग्रणी सदस्य सक्रिय हो चुके थे। जवाहरलाल पूर्ववत सन्तुलनकारी तत्त्व और पार्टी के लोकलुभावन मुखौटे का काम कर रहे थे और पहले की तरह 1946 के चुनावों में भी पार्टी के अग्रणी चुनाव प्रचारक की भूमिका भी वही निभाने वाले थे।

फ़ौजी अदालत द्वारा आज़ाद हिन्द फ़ौज के उपरोक्त तीनों अफ़सरों को लम्बी क़ैद की सज़ा के बाद नवम्बर 1945 में देशव्यापी विरोध प्रदर्शन शुरू हो गये। कलकत्ता में जनप्रदर्शन आम राजनीतिक हड़ताल में बदल गये। छात्र, युवा, मज़दूर और आम नागरिकों ने सड़कों पर बैरिकेड खड़े कर दिये। 22-23 नवम्बर को भीड़ सेना और पुलिस से मोर्चा लेती रही। कारख़ानों के अतिरिक्त टैक्सी ड्राइवरों और ट्राम चालकों ने कम्युनिस्ट नेतृत्व में हड़ताल कर दी। भीड़ ने रेलगाड़ियाँ रोक दीं। दर्जनों प्रदर्शनकारी मारे गये, सैकड़ों घायल हुए। पर पुलिस और सेना को भी भारी नुक़सान उठाना पड़ा। इस शहरी जन-विद्रोह की घटना में कम्युनिस्टों और फ़ॉरवर्ड ब्लॉक के अतिरिक्त कांग्रेस और लीग के आम कार्यकर्ताओं ने भी बढ़-चढ़कर भाग लिया, लेकिन इन पार्टियों के शीर्ष नेता इससे अलग रहे।। सुभाष के भाई, कांग्रेसी नेता शरत बोस ने छात्रों की एक सभा को सम्बोधित करने से इन्कार कर दिया और कम्युनिस्टों पर हिंसा भड़काने का आरोप लगाया। भारी सैनिक दमन के साथ ही कांग्रेसी नेताओं के प्रयासों से यह हड़ताल समाप्त हो पायी। लेकिन इसी तरह की राजनीतिक हड़तालें (कम उग्र स्तर पर) बम्बई और अन्य नगरों में भी हुईं। कांग्रेस के चरित्र को समझने के लिए इस घटना पर उसके नेताओं की प्रतिक्रिया जानना दिलचस्प होगा। इसके तुरन्त बाद गाँधी जी ने बंगाल के गवर्नर से सौहार्दपूर्ण वार्ता शुरू कर दी। 7-11 दिसम्बर को कलकत्ता में हुई कांग्रेस कमेटी की बैठक में अहिंसा पर काफ़ी ज़ोर दिया गया था जो सितम्बर बैठक के तेवर (जिसमें 1942 के जनसंघर्ष का गौरवगान किया गया था) के एकदम उलट था। ज़ाहिर है कि कांग्रेस जनान्दोलन से भयभीत हो गयी थी। उसे कमान अपने हाथ से निकल जाने का भय सताने लगा, बावजूद इसके, कि कम्युनिस्ट अपनी विचारधारात्मक-राजनीतिक-सांगठनिक कमज़ोरी तथा अनिर्णय के कारण तथा अतीत की ग़लतियों के चलते, निर्णायक पहलक़दमी ले पाने की स्थिति में नहीं थे।

उधर अंग्रेज़ों ने महसूस किया कि कुछ रियायतें देना और नरमी बरतना तथा कांग्रेस और लीग के साथ बातचीत को आगे बढ़ाकर समझौते-सौदेबाज़ी के द्वारा बुर्जुआ वर्ग को सत्ता सौंपने की दिशा में आगे बढ़ने की रफ़्तार तेज़ करनी होगी। 1 दिसम्बर को घोषणा की गयी कि "सम्राट के विरुद्ध युद्ध छेड़ने" के आम आरोप में आज़ाद हिन्द फ़ौज के सभी अफ़सरों-सैनिकों पर मुक़दमा चलाने के बजाय केवल उन्हीं सैनिकों पर मुक़दमा चलाया जायेगा जिन पर साथी क़ैदियों के साथ दुर्व्यवहार या उनकी हत्या करने के आरोप हैं। जनवरी 1996 में आज़ाद हिन्द फ़ौज के पहले बैच को दी गयी सज़ा रद्द कर दी गयी। फ़रवरी तक हिन्दचीन और इण्डोनेशिया से भारतीय सैनिकों की वापसी शुरू हो गयी।

22 जनवरी 1946 को एटली की सरकार ने कांग्रेस और लीग के नेताओं के साथ सौदेबाज़ी-समझौते की प्रक्रिया तय करने के लिए एक कैबिनेट मिशन भारत भेजने का महत्त्वपूर्ण निर्णय लिया। इसमें भारत मन्त्री सर पेथिक लॉरेंस (मिशन के नेता) के अतिरिक्त दो और मन्त्री लॉर्ड अलेक्ज़ेण्डर और सर स्टैफ़ोर्ड क्रिप्स शामिल थे।

कैबिनेट मिशन, जनसंघर्ष की नयी लहर, नौसेना विद्रोह, और प्रान्तीय विधानमण्डल के चुनाव : अन्तरिम सरकार के गठन और संविधान सभा के चुनाव की पूर्वबेला

कैबिनेट मिशन मार्च के अन्त तक भारत पहुँचा। लेकिन इसके पहले, फ़रवरी के महीने में भारत में दो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटीं, जिन्होंने ब्रिटिश सत्ता के समक्ष गम्भीर चुनौती उपस्थित कर दी और कैबिनेट मिशन के भावी क्रियाकलापों की दिशा एवं गति तय करने में अहम भूमिका निभायी।

इनमें से पहली घटना थी, फ़रवरी में एक बार फिर कलकत्ता की सड़कों पर बैरिकेड और आम हड़ताल। आज़ाद हिन्द फ़ौज के अब्दुल रशीद को 7 वर्ष क़ैद की सज़ा सुनायी जाने के बाद 11 और 13 फ़रवरी के बीच एक बार फिर कलकत्ता की सड़कों पर प्रचण्ड जनरोष उमड़ पड़ा। छात्रों ने पहल ली और फिर व्यापक कामगार और मध्यवर्गीय आबादी सड़कों पर उमड़ पड़ी। 12 फ़रवरी को कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा आम हड़ताल की घोषणा ने कलकत्ता के औद्योगिक जीवन को ठप्प कर दिया। दो दिनों तक सड़कों पर सेना और पुलिस से मुठभेड़ के दौरान 84 लोग मारे गये। इसी दौरान रेलवे और डाकख़ाने के कर्मचारियों के अखिल भारतीय संगठन बढ़ी हुई क़ीमतों और राशन-कटौती के विरुद्ध हड़ताल की धमकी दे रहे थे। जल्दी ही सरकारी कर्मचारी भी उनके साथ हो लिये। ग़ौरतलब है कि कांग्रेसी नेता ऐसी किसी भी हड़ताल के विरुद्ध थे। लीग और कांग्रेस राशन-कटौती के प्रस्ताव को स्वागत करते हुए स्वीकार कर चुके थे, लेकिन यह देशव्यापी जनान्दोलन का मुद्दा बन गया था।

दूसरी घटना राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के इतिहास की एक युगान्तरकारी घटना थी, जिसके वास्तविक महत्त्व का इतिहासकारों ने अभी तक बहुत कम आकलन किया है। यह घटना थी, 18 से 23 फ़रवरी 1946 के बीच बम्बई में होने वाला नौसेना विद्रोह, जो अनायास 1905 की पहली रूसी क्रान्ति के समय काले सागर में तैनात 'बैटलशिप' पोतेम्किन के नौसैनिकों के ऐतिहासिक विद्रोह की याद दिलाता है। विद्रोह की स्वत:स्फूर्त शुरुआत नौसेना के सिगनल्स प्रशिक्षण पोत 'आई.एन.एस. तलवार' से हुई। नाविकों द्वारा ख़राब खाने की शिकायत करने पर अंग्रेज़ कमान अफ़सरों ने नस्ली अपमान और प्रतिशोध का रवैया अपनाया। इस पर 18 फ़रवरी को नाविकों ने भूख हड़ताल कर दी। हड़ताल अगले ही दिन कैसल, फ़ोर्ट बैरकों और बम्बई बन्दरगाह के 22 जहाज़ों तक फैल गयी। 19 फ़रवरी को एक हड़ताल कमेटी का चुनाव किया गया। नाविकों की माँगों में बेहतर खाने और गोरे और भारतीय नौसैनिकों के लिए समान वेतन के साथ ही आज़ाद हिन्द फ़ौज के सिपाहियों और सभी राजनीतिक बन्दियों की रिहाई तथा इण्डोनेशिया से सैनिकों को वापस बुलाये जाने की माँग भी शामिल हो गयी। विद्रोही बेड़े के मस्तूलों पर कम्युनिस्ट पार्टी, कांग्रेस और मुस्लिम लीग के झण्डे एक साथ फहरा दिये गये। 20 फ़रवरी को विद्रोह को कुचलने के लिए सैनिक टुकड़ियाँ बम्बई लायी गयीं। नौसैनिकों ने अपनी कार्रवाइयों के तालमेल के लिए पाँच सदस्यीय कार्यकारिणी चुनी। लेकिन शान्तिपूर्ण हड़ताल और पूर्ण विद्रोह के बीच चुनाव की दुविधा उनमें अभी बनी हुई थी, जो काफ़ी नुक़सानदेह साबित हुई। 20 फ़रवरी को उन्होंने अपने-अपने जहाज़ों पर लौटने के आदेश का पालन किया, जहाँ सेना के गार्डों ने उन्हें घेर लिया। अगले दिन कैसल बैरकों में नाविकों द्वारा घेरा तोड़ने की कोशिश करने पर लड़ाई शुरू हो गयी जिसमें किसी भी पक्ष का पलड़ा भारी नहीं रहा और दोपहर बाद चार बजे युद्ध विराम घोषित कर दिया गया। एडमिरल गाडफ़्रे अब बमबारी करके नौसेना को नष्ट करने की धमकी दे रहा था। इसी समय लोगों की भीड़ गेटवे ऑफ़ इण्डिया पर नौसैनिकों के लिए खाना और अन्य मदद लेकर उमड़ पड़ी।

विद्रोह की ख़बर फैलते ही कराची, कलकत्ता, मद्रास और विशाखापत्तनम के भारतीय नौसैनिक तथा दिल्ली, ठाणे और पुणे स्थित कोस्ट गार्ड भी हड़ताल में शामिल हो गये। 22 फ़रवरी हड़ताल का चरम बिन्दु था, जब 78 जहाज़, 20 तटीय प्रतिष्ठान और 20,000 नौसैनिक इसमें शामिल हो चुके थे। इसी दिन कम्युनिस्ट पार्टी के आह्वान पर बम्बई में आम हड़ताल हुई। नौसैनिकों के समर्थन में शान्तिपूर्ण प्रदर्शन कर रहे मज़दूर प्रदर्शनकारियों पर सेना और पुलिस की टुकड़ियों ने बर्बर हमला किया, जिसमें क़रीब तीन सौ लोग मारे गये और 1700 घायल हुए। इसी दिन सुबह, कराची में भारी लड़ाई के बाद ही 'हिन्दुस्तान' जहाज़ से आत्मसमर्पण कराया जा सका। अंग्रेज़ों के लिए हालात संगीन थे, क्योंकि ठीक इसी समय बम्बई के वायु सेना के पायलट और हवाई अड्डे के कर्मचारी भी नस्ली भेदभाव के विरुद्ध हड़ताल पर थे तथा कलकत्ता और दूसरे कई हवाई अड्डों के पायलटों ने भी उनके समर्थन में हड़ताल कर दी थी। कैण्टोनमेण्ट क्षेत्रों से सेना के भीतर भी असन्तोष खदबदाने और विद्रोह की सम्भावना की ख़ुफ़िया रिपोर्टों ने अंग्रेज़ों को भयाक्रान्त कर दिया था। ऐसे नाज़ुक समय में उनके तारणहार की भूमिका में कांग्रेस और लीग के नेता आगे आये, क्योंकि सेना के सशस्त्र विद्रोह, मज़दूरों द्वारा उसके समर्थन तथा कम्युनिस्टों की सक्रिय भूमिका से भारतीय पूँजीपति वर्ग और राष्ट्रीय आन्दोलन का बुर्जुआ नेतृत्व स्वयं आतंकित हो गया था। जिन्ना की सहायता से पटेल ने काफ़ी कोशिशों के बाद 23 फ़रवरी को नौसैनिकों को समर्पण के लिए तैयार कर लिया। उन्हें आश्वासन दिया गया कि कांग्रेस और लीग उन्हें अन्याय व प्रतिशोध का शिकार नहीं होने देंगे। बाद में सेना के अनुशासन की दुहाई देते हुए पटेल ने अपना वायदा तोड़ दिया और नौसैनिकों के साथ ऐतिहासिक विश्वासघात किया। मार्च '46 में आन्ध्र के एक कांग्रेसी नेता को लिखे पत्र में सेना के अनुशासन पर बल देने का कारण पटेल ने यह बताया था कि 'स्वतन्त्र भारत में भी हमें सेना की आवश्यकता होगी।' उल्लेखनीय है कि 22 फ़रवरी को कम्युनिस्ट पार्टी ने जब हड़ताल का आह्वान किया था तो कांग्रेसी समाजवादी अच्युत पटवर्धन और अरुणा आसफ़ अली ने तो उसका समर्थन किया था, लेकिन पटेल ने लोगों से सामान्य ढंग से काम करने की अपील की थी। कांग्रेस और लीग के प्रान्तीय नेता एस.के. पाटिल और चुन्दरीअर ने तो क़ानून-व्यवस्था बनाये रखने के लिए स्वयंसेवकों को लगाने तक का प्रस्ताव दिया था। नेहरू ने नौसैनिकों के विद्रोह का यह कहकर विरोध किया कि 'हिंसा के उच्छृंखल उद्रेक को रोकने की आवश्यकता है।' गाँधी ने 22 फ़रवरी को कहा कि 'हिंसात्मक कार्रवाई के लिए हिन्दुओं-मुसलमानों का एकसाथ आना एक अपवित्र बात है।' नौसैनिकों की निन्दा करते हुए उन्होंने कहा कि यदि उन्हें कोई शिकायत है तो वे चुपचाप अपनी नौकरी छोड़ दें। अरुणा आसफ़ अली ने इसका दोटूक जवाब देते हुए कहा कि नौसैनिकों से नौकरी छोड़ने की बात कहना उन कांग्रेसियों के मुँह से शोभा नहीं देता जो ख़ुद विधायिकाओं में जा रहे हैं।

नौसेना विद्रोह ने कांग्रेस और लीग के वर्ग चरित्र को एकदम उजागर कर दिया। नौसेना विद्रोह और उसके समर्थन में उठ खड़ी हुई जनता की भर्त्सना करने में लीग और कांग्रेस के नेता बढ़-चढ़कर लगे रहे, लेकिन सत्ता की बर्बर दमनात्मक कार्रवाई के ख़िलाफ़ उन्होंने चूँ तक नहीं की। ज़ाहिर है कि भारतीय पूँजीपतियों के राजनीतिक प्रतिनिधि साम्राज्यवाद से राजनीतिक आज़ादी केवल देशी पूँजीवादी हितों और लूट-खसोट के निर्बन्ध विस्तार के लिए चाहते थे। जनता के विद्रोह की स्थिति में वे साम्राज्यवाद के साथ खड़े होने को तैयार थे और स्वातन्त्र्योत्तर भारत में साम्राज्यवादी हितों की रक्षा के लिए वे तैयार थे। जनान्दोलनों की ज़रूरत उन्हें बस साम्राज्यवाद पर दबाव बनाने के लिए और समझौते की टेबल पर बेहतर शर्तें हासिल करने के लिए थी। बावजूद इसके, उपनिवेशवाद के पीछे हटने के बाद लम्बे समय से संघर्षरत जनता की आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए उन्हें जनता को सीमित जनवादी

(पेज 9 पर जारी)

कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है?

(पेज 8 से आगे)

अधिकार देने ही थे (यह उनकी विवशता थी) तथा पूँजीवादी लूट का दायरा बढ़ाने के लिए गाँवों में, धीमी गति से, ग़ैरक्रान्तिकारी रास्ते से, सामन्ती वर्गों को नये पूँजीवादी शोषक के रूप में बदलने का अवसर देते हुए पूँजीवाद का विकास करना ही था। भारतीय पूँजीवादी लोकतन्त्र के इसी विशिष्ट चरित्र को हम 1946-47 के दौरान संविधान सभा के चुनाव के पहले से लेकर बाद तक की अवधि में निर्मित होते हुए देखते हैं।

प्रसंगवश, यहाँ पर एक बार फिर हमें कम्युनिस्ट पार्टी की जो ऐतिहासिक चूक देखने को मिलती है, उस पर भी संक्षिप्त चर्चा ज़रूरी है। नौसेना-विद्रोह की ख़बर मिलते ही, पार्टी के केन्द्रीय नेतृत्व ने पहलक़दमी लेकर उसे राजनीतिक नेतृत्व देने की कोशिश नहीं की, जबकि लीग और कांग्रेस के रुख़ को देखते हुए परिस्थितियाँ अनुकूल थीं। केवल मुम्बई में आम हड़ताल से आगे बढ़कर कम्युनिस्ट पार्टी यदि पूरे देश में आम राजनीतिक हड़ताल का आह्वान करती तो स्थितियाँ आम बग़ावत तक भी जा सकती थीं। यदि यह आम बग़ावत सफल नहीं होती, तो भी पार्टी पीछे हटकर ग्रामीण क्षेत्रों में लोकयुद्ध की नीति अपनाते हुए किसान संघर्ष को आगे बढ़ाते हुए देशव्यापी विद्रोह के अगले चक्र का इन्तज़ार कर सकती थी। नौसेना (और सेना-वायुसेना में भी सम्भावित) विद्रोह से उसे स्वयं जनता को सशस्त्र करने के अनुकूल अवसर मिल सकते थे। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष का नेतृत्व कम्युनिस्टों के हाथ में आ जाना लगभग तय था। साथ ही, साम्प्रदायिक विभाजन की प्रक्रिया भी रुक जाती, जैसाकि अरुणा आसफ़ अली ने नौसेना विद्रोह के दिनों में कहा था, "हिन्दुओं और मुसलमानों को संवैधानिक मोर्चे की तुलना में सड़क की मोर्चेबन्दियों पर एक करना कहीं अधिक सरल है।" लेकिन हम यहाँ जिस वैकल्पिक स्थिति की सम्भावना जता रहे हैं, वह बिना लम्बी तैयारी के, ऐन वक़्त पर सम्भव नहीं थी। सच यह है कि कम्युनिस्ट पार्टी इसके लिए तैयार ही नहीं थी। विचारधारात्मक कमज़ोरी (विशेषकर, दक्षिणपन्थी विचलन के लम्बे दौर), ढुलमुलपन, भारतीय परिस्थितियों की मौलिक समझ के अभाव, लौह अनुशासन में ढले लेनिनवादी सांगठनिक ढाँचे के अभाव और पहले से तैयारी की कमी के कारण पार्टी आम राजनीतिक हड़ताल का आह्वान करने और सशस्त्र आम बग़ावत की दिशा में आगे बढ़ने जैसा कोई काम कर ही नहीं सकती थी। आज़ाद हिन्द फ़ौज के मुक़दमों के मसले पर कलकत्ता से शुरू होकर पूरे देश में फैलने वाले जनान्दोलन के दो चक्रों में भी पार्टी की यही कमज़ोरी देखने को मिली थी और उसने इससे कोई सबक़ नहीं लिया था। आगे हम देखेंगे कि अपनी इन्हीं मूलभूत चारित्रिक कमज़ोरियों के चलते कम्युनिस्ट पार्टी तेभागा, पुनप्रा-वायलार-तेलंगाना के किसान संघर्षों को भी दीर्घकालिक लोकयुद्ध की राह पर आगे नहीं बढ़ा पायी। 1946 से लगभग 1950 तक जारी संक्रमण काल का वह कोई लाभ नहीं उठा सकी, क्योंकि वह वैचारिक कमज़ोरी की शिकार थी, जुझारू चरित्र और निर्णायक होने की क्षमता से रिक्त थी। इस थकी-हारी पार्टी ने 1951-52 में ही यदि संसदीय राजनीति का मार्ग निर्णायक तौर पर चुन लिया तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं थी।

1945-46 के शीत और शरद की घटनाओं ने (विशेषकर कलकत्ता की घटनाओं और नौसेना विद्रोह ने) ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के रुख़ को गम्भीरता से प्रभावित किया। 15 मार्च 1946 को भारत के सम्बन्ध में एटली ने हाउस ऑफ़ कामंस में लेबर पार्टी की नीति की दूसरी घोषणा की जिसमें यह माना गया था कि भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन देशव्यापी है जिसमें सेना भी शामिल है। घोषणा में भारत को यथाशीघ्र पूर्ण स्वाधीनता देने की बात दोहरायी गयी थी। मार्च के अन्त में मिशन भारत पहुँचा और जून तक वायसराय वेवेल के साथ मिलकर कांग्रेस और लीग के साथ बातचीत के लम्बे सिलसिले में लगा रहा। इधर अप्रैल 1946 में केन्द्रीय और प्रान्तीय विधायिकाओं के चुनाव होने थे, जो वैसे भी युद्ध के बाद होने थे (इनकी घोषणा वेवेल ने 21 अगस्त 1945 को ही कर दी थी) और लेबर सरकार ने वायदा करके इनकी पुष्टि भी कर दी थी। फ़रवरी 1937 की ही भाँति इस बार के चुनाव भी 1935 के 'गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया एक्ट' के मुताबिक़ सीमित मताधिकार (11.5 प्रतिशत) के आधार पर ही होने थे। 1937 के चुनावों में हिस्सा लेते हुए भी कांग्रेस ने कम से कम सार्विक मताधिकार की अपनी माँग दोहरायी थी और 1935 के क़ानून को 'गुलामी के चार्टर' की संज्ञा दी थी। चुनाव में भाग लेना उनकी मजबूरी थी, क्योंकि जुझारू जनसंघर्ष का रास्ता वे चुन नहीं सकते थे। 1946 में स्थिति यह थी कि जनसमुदाय स्वयं तेज़ी से जनविद्रोह की दिशा में आगे बढ़ रहा था। नवम्बर '45 से फ़रवरी '46 के बीच कांग्रेसी नेताओं ने जनसंघर्ष की बात को दृढ़तापूर्वक अस्वीकार करने के बाद अपनी पूरी ताक़त चुनाव में झोंक दी थी। सार्विक वयस्क मताधिकार की जो माँग वह 1930 से उठाती रही थी, उसे चुपचाप छोड़ दिया गया। यह कांग्रेसी नेतृत्व के वर्ग चरित्र को उजागर करने वाली प्रातिनिधिक ऐतिहासिक घटना थी। यह इसलिए भी महत्त्वपूर्ण था क्योंकि कांग्रेस को पता था कि सीमित मताधिकार के आधार पर चुनी गयी इन्हीं प्रान्तीय विधायिकाओं द्वारा संविधान सभा के परोक्ष चुनाव पर ब्रिटिश सत्ता का ज़ोर है, जबकि कांग्रेस की माँग सार्विक मताधिकार के आधार पर संविधान सभा के प्रत्यक्ष चुनाव की रही है। यही नहीं, 1937 की ही भाँति, ये चुनाव धार्मिक आधार पर पृथक निर्वाचक मण्डलों द्वारा होने थे। स्पष्ट था, कि जनसंघर्षों से भयाक्रान्त कांग्रेसी नेतृत्व हर हाल में समझौता वार्ताओं और "संवैधानिक रास्ते" से ही सत्ता पाना चाहता था और इसके लिए चुनाव की इस व्यवस्था को स्वीकार कर उसने प्रकारान्तर से मुस्लिम लीग के दावे को मज़बूत आधार प्रदान करने और साम्प्रदायिक आधार पर देश के बँटवारे की ज़मीन तैयार करने का काम किया। यानी कांग्रेस ब्रिटिश शर्तों को मानने और देश के बँटवारे तक को स्वीकार कर सकती थी, लेकिन साम्राज्यवाद विरोधी जुझारू जनसंघर्ष का रास्ता उसे किसी भी सूरत में स्वीकार्य नहीं था।

कांग्रेस के मुख्य चुनाव-प्रचारक नेहरू थे, पर प्रत्याशियों के चयन पर मुख्यत: पटेल और उनके दक्षिणपन्थी धड़े का नियन्त्रण था। इस चुनाव में कांग्रेस ने सभी प्रान्तों में आम (ग़ैर-मुस्लिम में पूर्ण) बहुमत हासिल किया। मुस्लिम निर्वाचक मण्डल में उसे केवल पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त में ही बहुमत मिला। केन्द्रीय असेम्बली की 102 में से 57 सीटें उसे मिलीं। ग़ैर मुस्लिम मतों का 91.3 प्रतिशत उसे मिला। बंगाल, सिन्ध, पंजाब छोड़कर सभी प्रान्तीय असेम्बलियों में उसे पूर्ण बहुमत मिला।

लेकिन मुस्लिम सीटों पर लीग की विजय भी उतनी ही शानदार थी। केन्द्र में आरक्षित सभी तीस मुस्लिम सीटें उसने (86.6 प्रतिशत मतों के साथ) और प्रान्तों की 509 में से 442 मुस्लिम सीटें उसने जीत ली थीं। ज़ाहिर है कि 1937 के एकदम उलट, लीग ने इस बार स्पष्टत: अपने को मुसलमानों की प्रमुख पार्टी कहलाने का औचित्य हासिल कर लिया था और पाकिस्तान की उसकी माँग को भी इससे काफ़ी मज़बूती मिल गयी थी। यह कांग्रेस द्वारा सीमित मताधिकार आधारित चुनाव और समझौता-वार्ताओं के रास्ते आज़ादी की दिशा में आगे बढ़ने की तार्किक परिणति थी। यह याद रखना होगा कि मुख्यत: सम्पत्ति के आधार पर निर्धारित 11.5 प्रतिशत लोगों के निर्वाचक मण्डल ने ही (यानी धनी मुसलमानों के एक छोटे हिस्से ने ही) मुस्लिम लीग को "मुसलमानों की प्रतिनिधि पार्टी" कहलाने और पाकिस्तान की माँग का अधिकार दिया था। बहुसंख्यक आम मुसलमान आबादी की आवाज़ को यहाँ स्थान ही नहीं मिला था। और 1945-46 के जनसंघर्षों और विगत तीन दशकों के किसानों-मज़दूरों के सभी संघर्षों के अनुभवों ने सिद्ध कर दिया था कि बहुसंख्यक आम मेहनतकश और निम्न मध्यवर्गीय मुस्लिम आबादी साम्प्रदायिक आधार पर बँटवारे की हिमायती क़तई नहीं थी। उन्होंने सिद्ध कर दिया था कि यदि राष्ट्रीय मुक्ति का रास्ता जुझारू जनसंघर्ष का रास्ता हो तो भीषण साम्प्रदायिक दंगे और विभाजन भारतीय इतिहास के काले अध्याय के रूप में हमारे सामने नहीं होते।

चुनावों में हुए साम्प्रदायिक मतदान के बोलबाले ने लीग के दावों, भारत-विभाजन की उपनिवेशवादी साज़िशों और आने वाले दिनों के अभूतपूर्व नरसंहार और विस्थापन के लिए ज़मीन तैयार करने में अहम भूमिका निभायी और यहाँ से एक ऐसी गति आगे बढ़ी, जिसे कांग्रेसी नेतृत्व चाहते हुए भी नियन्त्रित नहीं कर सकता था।

लीग को पर्याप्त प्रगति के बावजूद पंजाब में स्पष्ट बहुमत नहीं मिल सका था। असम और पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त (जिन्हें पाकिस्तान के लिए माँगा जा रहा था) में भी कांग्रेस ने अच्छा बहुमत हासिल कर लिया था। बंगाल और सिन्ध में लीग की सरकारें बनीं, लेकिन वे ब्रिटिश सत्ता और यूरोपीयों के समर्थन की मोहताज थीं।

कम्युनिस्ट पार्टी ने कांग्रेस द्वारा सार्विक मताधिकार की माँग त्यागने का मुद्दा बनाकर आन्दोलन की राह चुनने के बजाय (वस्तुत: वह इसके लिए तैयार नहीं थी और 1945-46 के शरद-शीत के जनसंघर्षों ने उसकी इस कमज़ोरी को साफ़ कर दिया था) सार्विक मताधिकार के आधार पर संविधान सभा की माँग, राष्ट्रीयताओं के आत्मनिर्णय के अधिकार, आमूलगामी भूमि सुधार, उद्योगों के राष्ट्रीयकरण और बड़े कारख़ानों पर मज़दूरों के नियन्त्रण को अपने चुनाव घोषणापत्र के प्रमुख मुद्दे बनाते हुए चुनावों में भागीदारी की। मुख्यत: सम्पत्ति के आधार पर 11.5 प्रतिशत आबादी का जो निर्वाचक-मण्डल बना था, उसे देखते हुए कम्युनिस्ट पार्टी बेहतर नतीजों की उम्मीद कर ही नहीं सकती थी। फिर भी उसने बंगाल की प्रान्तीय असेम्बली में 3 तथा बम्बई और मद्रास की प्रान्तीय असेम्बलियों में 2-2 सीटें हासिल की थीं। महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि अनेक प्रान्तों में कम्युनिस्ट कांग्रेस के मुख्य प्रतिद्वन्द्वी बनकर उभरे थे। लेकिन पार्टी की कमज़ोरी का सबसे जीता-जागता उदाहरण यह तथ्य है कि नवम्बर '45 से फ़रवरी '46 की घटनाओं के बाद ही, पार्टी महासचिव पी.सी. जोशी ने अपने चुनावी परचे में, "अपनी साझी लज्जा के विरुद्ध और साझे गौरव के लिए, कांग्रेस-लीग-कम्युनिस्टों का संयुक्त मोर्चा" बनाने की भावनात्मक अपील की थी।

जून 1946 तक कैबिनेट मिशन और वायसराय के साथ कांग्रेस और लीग के नेताओं की वार्ताओं के लम्बे सिलसिले में दो ही अहम मुद्दे थे : एक केन्द्र में अन्तरिम सरकार का गठन और दूसरा, संविधान सभा का गठन तथा संविधान निर्माण की प्रक्रिया। इस बीच 17 अप्रैल को पी.सी. जोशी ने भी कैबिनेट मिशन से मुलाक़ात की और सार्विक मताधिकार के आधार पर संविधान सभा के चुनाव की अपनी माँग पर बल दिया। इस समय तक कांग्रेस सार्विक मताधिकार के आधार पर संविधान सभा चुनने की अपनी दो दशक पुरानी माँग को चुपचाप निगलकर चुप्पी मार चुकी थी और लीग का तो पहले से ही इस पर ज़ोर नहीं था। लीग के नेता यह जानते थे कि यह माँग यदि मान ली जायेगी तो लीग की स्थिति बेहद कमज़ोर हो जायेगी और पाकिस्तान बन पाना असम्भव हो जायेगा। कांग्रेस के नेता सत्ता पाने के लिए हड़बड़ी में थे और अब वे उस प्रकार के किसी 'पैसिव' जनान्दोलन के लिए भी क़तई तैयार नहीं थे ('42 जैसे जनसंघर्ष की तो बात ही छोड़ दें) जैसा कांग्रेस अतीत में करती रही थी, क्योंकि उन्हें आन्दोलन की कमान हाथ से निकल जाने का भय था और सामाजिक व्यवस्था में किसी भी क़ीमत पर ऐसे किसी उथल-पुथल का जोखिम मोल लेने के लिए वे तैयार नहीं थे, जो देशी बुर्जुआ हितों के लिए ख़तरा पैदा कर सकता हो। अप्रैल के महीने में मलाबार, अण्डमान द्वीप समूह ढाका, बिहार और दिल्ली में पुलिस हड़तालें हुईं, गर्मी भर अखिल भारतीय रेल हड़ताल के अल्टीमेटम दिये जाते रहे, जुलाई में डाक कर्मचारियों की देशव्यापी हड़ताल हुई और 16 अगस्त के साम्प्रदायिक नरसंहार से 18 दिन पहले 29 जुलाई को कम्युनिस्टों के नेतृत्व में कलकत्ता में डाककर्मियों के समर्थन में पूर्णत: शान्तिपूर्ण और ज़बर्दस्त एकताबद्ध बन्द आयोजित हुआ (हालाँकि कम्युनिस्ट पहले की ही भाँति इन आन्दोलनों को जोड़कर अखिल भारतीय जन-उभार की कड़ी और सीढ़ी नहीं बना पाये)। इस समय कांग्रेसी नेतृत्व प्रान्तों में सरकारें चलाने और कैबिनेट कमीशन से सौदेबाज़ी में व्यस्त तो था ही, इन जनान्दोलनों के प्रति हाईकमान का रुख़ भी एकदम साफ़ था। कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने अगस्त प्रस्ताव में कामगारों की बढ़ती अनुशासनहीनता और कर्तव्यपालन में लापरवाही की भर्त्सना की थी। एक बातचीत के दौरान वेवेल ने तब राहत की साँस ली जब "नेहरू समझ गये कि रेलकर्मियों की माँगें कितनी नाजायज़ हैं और उनके आगे झुकना कितना ख़तरनाक होगा।" अन्तरिम सरकार में मन्त्री बनने के बाद शरत बोस दिल्ली के बिजली कर्मचारियों की हड़ताल की सम्भावना दीखने पर सेना और अंग्रेज़ तकनीशियनों को बुलाने को तैयार थे और यह बात वेवेल के लिए राहत देने वाली थी। उस दौर के अंग्रेज़ राजनीतिज्ञों-नौकरशाहों के प्राइवेट पेपर्स से इस बात के स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि ब्रिटिश सत्ता जनक्रान्ति की आशंका से कितनी भयभीत थी और कांग्रेसी नेतृत्व पर वह कितना भरोसा करने लगी थी। इस तरह कैबिनेट मिशन योजना और अन्तरिम सरकार की कवायदों के दौरान साम्प्रदायिक दंगों की विनाशलीला, देश के विभाजन और विकृत-विकलांग पूँजीवादी लोकतान्त्रिक गणतन्त्र की स्थापना की ज़मीन तैयार होती रही।

जिन्ना पाकिस्तान के प्रस्ताव पर अब दृढ़ता से अड़े हुए थे। कांग्रेसी नेताओं के विरोध का स्वर नरम और रुख़ लचीला होता जा रहा था, क्योंकि सामाजिक उथल-पुथल से भयभीत वे जल्दी से जल्दी सत्ता-हस्तान्तरण चाहते थे। कैबिनेट मिशन ने कांग्रेस और लीग के अन्तरविरोधों का कुशलता से लाभ उठाया। 16 मई '46 को उसने एक दीर्घावधि योजना प्रकाशित की जिसमें विभाजन के विचार को खुले तौर पर न रखते हुए भी, अविभाजित, भावी स्वाधीन भारत में हिन्दू बहुसंख्या द्वारा मुस्लिम अल्पसंख्या को आत्मसात कर लेने के ख़तरे की ओर इशारा करते हुए एक ऐसा संघात्मक, ढीला-ढाला, तीन स्तरों वाला ढाँचा प्रस्तावित किया गया था जिसमें बँटवारे के बीज मौजूद थे। कैबिनेट मिशन का प्रस्ताव इस प्रकार था :

(i) भारत की 'डोमिनियन' राज्य प्रान्तों और देशी रियासतों का एक ढीला-ढाला संघ होगा जिन्हें व्यापकतम स्वायत्तता हासिल होगी, केन्द्र का नियन्त्रण केवल विदेश विभाग, प्रतिरक्षा और संचार-साधनों पर होगा।

(ii) ब्रिटिश भारत के प्रान्त तीन मण्डलों में बाँट दिये जायेंगे : हिन्दू-बहुल प्रान्तों के लिए मण्डल 'अ' होगा तथा उत्तर पश्चिमी और उत्तर-पूर्वी मुस्लिम-बहुत प्रान्तों (असम सहित) के लिए क्रमश: मण्डल 'ब' और मण्डल 'स' होंगे। इन मण्डलों को अपने स्वयं की मध्यवर्ती स्तर की विधायिकाएँ और कार्यकारिणियाँ बनाने का अधिकार होगा।

(पेज 10 पर जारी)

नयी सदी में पूँजी के ख़िलाफ़ वर्ग युद्ध में फ़ैसलाकुन और मुकम्मल जीत के लिए आगे बढ़ो!!

(पेज 4 से आगे)

हैं जिनके पास खोने को सिर्फ़ उजरती गुलामी की बेड़ियाँ हैं।

मज़दूर वर्ग का इतिहास पिछले डेढ़ सौ से भी अधिक वर्षों के संघर्षों का इतिहास है, कई सर्वहारा क्रान्तियों और समाजवाद के संघर्ष और निर्माण का इतिहास है। मज़दूर वर्ग के उन्नत वर्ग-सचेत तत्त्व और नेतृत्वकारी तत्त्व इस सच्चाई को जानते हैं। वैज्ञानिक विचारधारा से लैस मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी हरावल चाहे आज जिस भी अवस्था में हों, पर वे हैं और अपनी आस्थाओं-सपनों-आदर्शों के साथ सक्रिय हैं। उनकी मति स्मृति को जगाकर स्वयं को समृद्ध करेगी और नयी प्रज्ञा को आलोकित करेगी। इतिहास की शिक्षाएँ सर्वहारा क्रान्तिकारियों को वर्तमान को समझने में मदद करेंगी और पुनर्नवा भविष्य-स्वप्नों को नयी विधि से परियोजनाओं में ढालने का मार्ग प्रशस्त करेंगी। फिर से नया मज़दूर आन्दोलन नयी सदी में समाजवादी क्रान्ति के नये संस्करण के निर्माण की चेतना से लैस होगा। इसलिए यह मायूसी का नहीं, बल्कि नये संकल्पों का समय है। यह इतिहास का अन्त नहीं है। पूँजीवाद अजर-अमर नहीं है। एक नये प्रकार की दीर्घकालिक मन्दी के रूप में फूट पड़ने वाला पूँजीवाद का असाध्य ढाँचागत संकट भी यही साबित कर रहा है। इतिहास में पहले भी सामाजिक क्रान्तियाँ फ़ैसलाकुन जीत के पहले हारती रही है और फिर लौटकर दूनी ताक़त से हमला करके जीतती रही हैं। आश्चर्य नहीं कि पूँजीवादी विश्व को आज फिर कम्युनिज़्म का हौवा सता रहा है।

दुनिया के मज़दूर वर्ग की बिखरी हुई हरावल ताक़तों को सबसे पहले यह बात समझनी होगी कि कुछ परिस्थितियों और कुछ नारों की अतीत से सादृश्यता के बावजूद हमें दरअसल एक नयी ज़मीन पर पूँजी की उन ताक़तों से मोर्चा बाँधकर लड़ना है जो उत्पादन, शोषण और राजकाज के तरीक़ों को काफ़ी हद तक बदल चुकी हैं। अतः नये वर्ग-महासमर की रणनीति भी अलग होगी, आम रणकौशल भी अलग होंगे। पुरानी क्रान्तियों से सीखना है, उन्हें दोहराने की कोशिश मूर्खता होगी। नायक और नेतृत्व नहीं, जनता इतिहास बनाती है। यदि आज की क्रान्तिकारी ताक़तें आज की सच्चाई को समझकर नयी क्रान्ति की राह नहीं निकाल सकेंगी तो जनसमुदाय के बीच से नये हिरावल आगे आयेंगे और इस काम को अंजाम देंगे। इतिहास रुका नहीं रहेगा।

मई दिवस के हमारे नारे आज भी वही हैं। काम के घण्टे का सवाल और ऐसे तमाम सवाल आज भी हैं। हमारे आज के नये सिरे से शुरू हो रहे मज़दूर वर्ग के राजनीतिक संघर्ष में ये नारे प्रासंगिक हैं, पर लड़ाई की नयी ज़मीन ने इन नारों को भी नयी अर्थवत्ता और ताज़गी दे दी है। मज़दूर वर्ग को फिर से राजनीतिक अधिकारों के लिए लड़ते हुए राज्यसत्ता-दख़ल के सवाल को केन्द्रीय मुद्दा बनाना है। इसीलिए, जैसा कि हमने शुरू में ही लिखा है, कई बार मुद्दों के स्तर पर पीछे लौटकर शुरुआत हमें उन प्रारम्भिक माँगों से करनी पड़ती हैं, जो हमने कभी हासिल कर ली थी और जो फिर हमसे छीन ली गयीं। ऐसे में लगता है कि पीछे लौटकर हम फिर वहीं से शुरू कर रहे हैं, पर वास्तव में वह एक नयी शुरुआत होती है।

मौत की सज़ा सुनाये जाते समय, मई दिवस के शहीद मज़दूर नेता स्पाइस ने अदालत में चिल्लाकर कहा था, "अगर तुम सोचते हो कि हमें फाँसी पर लटकाकर तुम मज़दूर आन्दोलन को, ग़रीबी और बदहाली में कमरतोड़ मेहनत करने वाले लाखों लोगों के आन्दोलन को कुचल डालोगे, अगर यही तुम्हारी राय है – तो ख़ुशी से हमें फाँसी दे दो। लेकिन याद रखो – आज तुम एक चिंगारी को कुचल रहे हो, लेकिन यहाँ-वहाँ, तुम्हारे पीछे, तुम्हारे सामने, हर ओर लपटें भड़क उठेंगी। यह जंगल की आग है। तुम इसे कभी भी बुझा नहीं पाओगे।"

वह जंगल की आग फ़िलहाल यहाँ-वहाँ सुलगते पत्तों के बीच मौजूद है। दीखती भी है तो उसकी ताक़त का अहसास नहीं होता। लेकिन उसे प्रचण्ड तूफ़ानी ताक़त से भड़कना ही है। तब उसे रोक पाना किसी भी तरह से मुमकिन नहीं होगा। ●

कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है?

(पेज 9 से आगे)

(iii) एक संविधान सभा गठित की जायेगी, जिसमें प्रान्तीय विधानमण्डलों द्वारा निर्वाचित और देशी रियासतों के शासकों द्वारा मनोनीत प्रतिनिधि होंगे। यह संविधान सभा पूरे भारत के लिए संविधान तैयार करने के बाद ऊपर उल्लिखित तीन मण्डलों के हिसाब से तीन विभागों में बँट जायेगी, जिनमें सम्बद्ध प्रान्तों के प्रतिनिधि तीन मण्डलों के लिए संविधान बनायेंगे।

(iv) संविधान सभा का चुनाव प्रान्तीय असेम्बलियों द्वारा तीन निर्वाचक मण्डलों – हिन्दू, मुस्लिम और सिख – के आधार पर (दस लाख की आबादी पर एक प्रतिनिधि) होगा।

(v) प्रान्त, मण्डल और संघ – तीनों स्तरों पर संविधान-निर्माण की प्रक्रिया पूरी हो जाने के बाद प्रान्तों को किसी एक मण्डल-विशेष से बाहर जाने का अधिकार होगा, लेकिन संघ से अलग होने का अधिकार नहीं होगा। उन्हें दस वर्षों के अन्तराल पर संविधान पर पुनर्विचार का भी अधिकार होगा।

(vi) संविधान-निर्माण की प्रक्रिया पूरी होने और नये संविधान के लागू होने तक रोज़मर्रे के प्रशासकीय कामों की ज़िम्मेदारी एक अन्तरिम सरकार की होगी।

मिशन के सदस्य पेथिक-लॉरेंस ने यह भी घोषित किया कि अन्तिम उद्देश्य भारत को स्वाधीनता प्रदान करना है, यह स्वाधीनता ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के अन्तर्गत होगी या उसके बिना होगी, यह भारतीय जन अपनी स्वतन्त्र इच्छा से तय करेंगे। पहली बार, खुले शब्दों में स्वाधीनता देने की मंशा की इस घोषणा के पीछे उस समय की विस्फोटक परिस्थितियाँ थीं।

(अगले अंक में : अन्तरिम सरकार और संविधान सभा, साम्प्रदायिक विनाश-लीला, तेभागा-तेलंगाना, पुनप्रा-वायलार, माउण्टबेटन योजना, विभाजन और आज़ादी)

मन्दी की मार झेलते मध्य और पूर्वी यूरोप के मज़दूर

आज के पूर्वी यूरोप के देशों की औद्योगिक-वैज्ञानिक प्रगति जिस हद तक भी है वह मुख्यतः समाजवादी अतीत की देन है, जबकि इसके जो भी संकट हैं वे पूँजीवादी ढाँचे की देन हैं, यह इतिहास की सच्चाई है।

स्तालिन की मृत्यु के बाद ही रूस और पूर्वी यूरोप में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना हो गयी थी लेकिन मार्क्सवाद का मुखौटा लगाये नये पूँजीवादी शासकों ने जनता को छल-कपट से ख़ूब निचोड़ा। 1989 में ये संशोधनवादी कुलीन सत्ताएँ बालू की भीत की तरह ढह गयीं और इनकी जगह बुर्जुआ शासकों ने सम्हाल ली। अब वैश्विक आर्थिक संकट के दुश्चक्र में ये देश भी फँस चुके हैं।

वर्तमान मन्दी ने मध्य और पूर्वी यूरोप की अर्थव्यवस्था को बुरी तरह हिला दिया है। हर दिन यह संकट और ज़्यादा गहरा और व्यापक होता जा रहा है। हंगरी, उक्रेन और बाल्टिक राज्यों में आर्थिक गिरावट बहुत ही तेज़ मानी जा रही है। विश्व बैंक के अनुसार इस वित्तीय संकट से मध्य और पूर्वी यूरोप और पूर्व सोवियत संघ से अलग हुए नये देशों में ग़रीबों की संख्या बढ़कर 3.5 करोड़ हो जायेगी, जैसाकि 1990 के बाद से देखी नहीं गयी है। कुछ देशों जैसे लातविया, एस्तोनिया, रूस और उक्रेन में बेरोज़गारी महीने में एक प्रतिशत की दर से बढ़ रही है।

निर्माण उद्योग में, जिसमें ज़्यादातर उक्रेन के प्रवासी मज़दूर काम करते थे, बड़े पैमाने पर मन्दी छा गयी है। उक्रेन के मज़दूर सालाना लगभग 8.4 करोड़ डॉलर घर भेजते थे, जो उक्रेन के सकल घरेलू उत्पाद का 8 प्रतिशत था। अब घर लौटे उक्रेनियाई मज़दूरों के लिए जीविका का कोई वैकल्पिक स्रोत नहीं रह गया है। इस संकट का सबसे बुरा असर महिलाओं पर पड़ रहा है। एक तो उनका रोज़गार चला गया और आमदनी का कोई ज़रिया न रहा और दूसरा उनसे बहुत ही ख़राब परिस्थिति में घरेलू काम कराये जाने की उम्मीद रखी जाती है। बहुत-सी नौजवान स्त्रियाँ मन्दी और बेरोज़गारी की मार से वेश्यावृत्ति का रास्ता अपनाने को मजबूर हो गयी हैं।

मन्दी ने हालत इतनी बिगाड़ दी है कि हर जगह प्रवासी मज़दूरों की माँग कम होने लगी है। चेक गणराज्य में तो वियतनामी मज़दूरों को घर वापस भेजने के लिए मुफ़्त हवाई टिकट और 500 यूरो नगदी तक दिये जा रहे हैं। नीदरलैण्ड, रोमानिया, बुल्गारिया में पहले से ही प्रवासी मज़दूरों को घर वापस भेजने के लिए मजबूर किया जा रहा है।

पिछले 20 सालों में पूर्वी यूरोपीय देश अलग-अलग स्तरों पर विश्व अर्थव्यवस्था के साथ नत्थी हो चुके हैं। नतीजतन वर्तमान संकट वैश्विक उत्पादन और वितरण पर असर डाल रहा है। बड़ी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की स्थिति, भले ही वे अमेरिकी (जनरल मोटर्स) हों या भारतीय (वीडियोकॉन ग्रुप), स्थानीय अर्थव्यवस्थाओं पर बेहद असर डालती है। जब बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की स्थानीय फ़ैक्टरियाँ बन्द या स्थानान्तरित होती हैं तो स्थानीय अर्थव्यवस्था चरमराने लगती है।

कम्पनियों के स्थानान्तरण का ख़ामियाज़ा भी मज़दूरों को ही भुगतना पड़ता है। उन्हें जितनी मज़दूरी अपने देश में मिलती थी उससे कम मज़दूरी पर उनसे स्थानान्तरित कम्पनियों में काम लिया जाने लगता है। जैसे कुछ कम्पनियाँ जो मध्य पूर्वी यूरोप में स्थानान्तरित हुईं, उन्होंने अपनी ऑपरेशनल लागतें कम कर दीं और मज़दूरों को बेहद कम मज़दूरी देने लगीं। डेल कम्पनी, जिससे कि आयरलैण्ड के सकल घरेलू उत्पाद का 5 प्रतिशत आता है, ने अपने कम्प्यूटर मैन्युफ़ैक्चर को लिमरिक (आयरलैण्ड) से लोड्ज़ (पोलैण्ड) में स्थानान्तरित कर दिया। इससे आयरलैण्ड में 1700 स्त्री-पुरुष मज़दूरों का रोज़गार छिन गया। लिमरिक की स्थानीय अर्थव्यवस्था, जो कभी आयरलैण्ड के आर्थिक "चमत्कार" का शो-पीस हुआ करती थी, बुरी तरह ढह गयी।

पोलैण्ड में कपड़ा उद्योग भी भयंकर संकट में है। इस उद्योग से लगभग 40,000 मज़दूरों की छँटनी की जा चुकी है, जिनमें ज़्यादातर महिलाएँ थीं। चेक गणराज्य के टेक्सटाइल उद्योग में पिछले साल लगभग 52,000 मज़दूरों की छँटनी की गयी और इस साल 10,000 और नौकरियाँ छिन जायेंगी। बैंकिंग सेक्टर में भी छँटनी की कुल्हाड़ी चल रही है। केवल पोलैण्ड में ही इस सेक्टर में 12,000 मज़दूरों पर छँटनी की गाज गिरी। इसका सबसे बुरा असर महिलाओं पर पड़ा है। छँटनीशुदा महिला मज़दूर जो रिटायरमेण्ट की उम्र तक पहुँच चुकी हैं, उन्हें अब कहीं भी रोज़गार मिलना मुश्किल हो रहा है।

वर्तमान संकट का सामना करते हुए मध्य और पूर्वी यूरोप की सरकारें ख़स्ताहाल हैं। इस संकट को टालने का उन्हें कोई रास्ता नहीं सूझ रहा है और वे अधिक से अधिक क़र्ज़ के जाल में फँसती जा रही हैं। कई देश जैसे हंगरी, उक्रेन और बाल्टिक राज्य तो लगभग दिवालियेपन के कगार पर हैं।

अर्थव्यवस्था को दिवालिया होने से बचाने के लिए यूरोपीय सरकारों ने राहत पैकेजों का ढेर लगा दिया है। हंगरी को आई.एम.एफ़., विश्व बैंक और ईस्टर्न यूनियन ने 15.7 बिलियन डॉलर क़र्ज़ देकर दिवालिया होने से बचाया। रूस में 20 बिलियन डॉलर के राहत पैकेज के साथ बड़े कारपोरेट घरानों के इनकम टैक्स में 20 से 25 प्रतिशत की कटौती भी की गयी। हंगरी ने छोटे और मँझोले उद्योगों को 1.4 मिलियन डॉलर दिया और इनकम टैक्स में कटौती की। लिथुआनियाई सरकार ने देश में रहने वाले मेहनतकशों की तबाही-बर्बादी से पल्ला झाड़ते हुए बड़े ही बेशर्मी से कहा कि ये राहत पैकेज देश के आर्थिक हालात को सुधारने और व्यापार की सहायता के लिए दिया जा रहा है ताकि बाज़ार के संचालन, निर्यात और निवेश को प्रोत्साहन दिया जा सके।

लेकिन इस वैश्विक मन्दी की सबसे बुरी मार दुनियाभर की ग़रीब मेहनतकश आबादी पर ही पड़ रही है। उन्हें ही लगातार महँगाई, बेरोज़गारी, छँटनी, तालाबन्दी का सामना करना पड़ रहा है, शिक्षा और स्वास्थ्य से बेदख़ल किया जा रहा है, आत्महत्या करने पर मजबूर होना पड़ रहा है। पूँजीपतियों को दिये जाने वाले राहत पैकेजों की क़ीमत भी जनता से टैक्सों के ज़रिये वसूली जायेगी और उसे तबाही-बर्बादी के नर्ककुण्ड में ढकेलकर विश्व अर्थव्यवस्था को बचाने में वैश्विक डाकू एक हो जायेंगे। लेकिन इसका दूसरा पक्ष भी है। आम जनता चुपचाप नहीं बैठी है। इसके ख़िलाफ़ हर जगह विरोध प्रदर्शनों का ताँता लग गया है। हंगरी, बुल्गारिया, रूस, लिथुआनिया, लातविया, एस्तोनिया जैसे कई देशों में संसदों पर हिंसक हमले हुए। पिछले साल रूस में पिकोलोवा नामक जगह पर स्थानीय लोगों ने स्त्री मज़दूरों के नेतृत्व में रोज़गार की माँग को लेकर हाईवे जाम किया। इस जगह सीमेण्ट के चार कारख़ानों में से तीन बन्द हो गये थे और जो उद्योग चल रहे थे उनमें मज़दूरों को तनख़्वाह नहीं दी जा रही थी। दुनियाभर में मज़दूरों के छोटे-बड़े विरोध प्रदर्शनों ने जता दिया है कि जनता के अन्दर सुलग रहा लावा कभी भी फट सकता है।

इतना तो तय है कि चाहे कितने भी उपाय सुझा लिये जायें, यह संकट दूर नहीं होने वाला। अगर थोड़े समय के लिए पूँजीवादी अर्थव्यवस्था इससे उबर भी जायेगी तो कुछ ही वर्षों में इससे भी भीषण मन्दी की चपेट में आ जायेगी। इस बूढ़ी, जर्जर, मानवद्रोही व्यवस्था को क़ब्र में धकेलकर ही इसका अन्त किया जा सकता है जिससे इंसानियत भी इसके पंजे से मुक्त होकर खुली हवा में साँस ले सकेगी।

– नमिता

शिकागो के शहीद मज़दूर नेताओं की अमर कहानी

मज़दूरों का त्योहार मई दिवस आठ घण्टे काम के दिन के लिए मज़दूरों के शानदार आन्दोलन से पैदा हुआ। उन दिनों मज़दूर चौदह से लेकर सोलह-सोलह घण्टे तक खटते थे। सारी दुनिया में इस माँग को लेकर मज़दूर जगह-जगह आन्दोलन कर रहे थे। अपने देश में भी 1862 में ही मज़दूरों ने इस माँग को लेकर कामबन्दी की थी। लेकिन पहली बार बड़े पैमाने पर 1886 में अमेरिका के कई मज़दूर संगठनों ने मिलकर आठ घण्टे काम की माँग पर एक विशाल आन्दोलन खड़ा करने का फ़ैसला किया।

एक मई 1886 को पूरे अमेरिका के लाखों मज़दूरों ने एक साथ हड़ताल शुरू की। इसमें 11,000 फ़ैक्टरियों के कम से कम तीन लाख अस्सी हज़ार मज़दूर शामिल थे। शिकागो शहर के आसपास सारा रेल यातायात ठप्प हो गया और शिकागो के ज़्यादातर कारख़ाने और वर्कशाप बन्द हो गये। शहर की मुख्य सड़क पर अल्बर्ट पार्सन्स की अगुवाई में हज़ारों मज़दूरों ने एक शानदार जुलूस निकला।

मज़दूरों की बढ़ती ताक़त और उनके नेताओं के अडिग संकल्प से डरे हुए कारख़ानेदार लगातार उन पर हमला करने की घात में थे। सारे के सारे अख़बार (जिनके मालिक पूँजीपति थे) "लाल ख़तरे" के बारे में चिल्ल-पों मचा रहे थे। पूँजीपतियों ने आसपास से भी पुलिस के सिपाही और सुरक्षाकर्मियों को बुला रखा था। इसके अलावा सैकड़ों गुण्डों को भी हथियारों से लैस करके मज़दूरों पर हमला करने के लिए तैयार रखा गया था। शहर के तमाम धन्नासेठों और व्यापारियों की मीटिंग लगातार चल रही थी जिसमें इस "ख़तरनाक स्थिति" से निपटने पर विचार किया जा रहा था।

3 मई को मैकार्मिक हार्वेस्टिंग मशीन कम्पनी के मज़दूरों ने दो महीने से चल रहे लॉक आउट के विरोध में और आठ घण्टे काम के समर्थन में कार्रवाई शुरू कर दी। जब हड़ताली मज़दूरों ने पुलिस पहरे में हड़ताल तोड़ने के लिए लाये गये तीन सौ ग़द्दार मज़दूरों के ख़िलाफ़ मीटिंग शुरू की तो निहत्थे मज़दूरों पर गोलियाँ चलायी गयीं। चार मज़दूर मारे गये और बहुत से घायल हुए। अगले दिन भी मज़दूर ग्रुपों पर हमले जारी रहे। इस बर्बर पुलिस दमन के ख़िलाफ़ चार मई की शाम को शहर के मुख्य बाज़ार **हे मार्केट चौक** में एक जनसभा रखी गयी।

मीटिंग रात आठ बजे शुरू हुई। क़रीब तीन हज़ार लोगों के बीच पार्सन्स और स्पाइस ने मज़दूरों का आह्वान किया कि वे एकजुट और संगठित रहकर पुलिस दमन का मुक़ाबला करें। जब आख़िरी वक्ता बोल रहे थे तभी बारिश शुरू हो गयी। मीटिंग ख़त्म होने वाली थी कि 180 पुलिसवाले वहाँ पहुँच गये। मज़दूर नेता पुलिस को बताने की कोशिश कर रहे थे कि यह शान्तिपूर्ण सभा है, कि इसी बीच पुलिस के एक एजेण्ट ने भीड़ में बम फेंक दिया। बम का निशाना तो मज़दूर थे लेकिन चारों ओर पुलिस वाले फैले हुए थे और वही बम की चपेट में आ गये। एक मारा गया और पाँच घायल हुए। पगलाये पुलिसवालों ने चौक को चारों ओर से घेरकर भीड़ पर अन्धाधुन्ध गोलियाँ चलानी शुरू कर दीं। छः मज़दूर मारे गये और 200 से ज़्यादा बुरी तरह ज़ख़्मी हो गये। मज़दूरों ने अपने ख़ून से रँगे अपने कपड़ों को ही अपना लाल झण्डा बना लिया।

इस घटना के बाद पूरे शिकागो में पुलिस ने मज़दूर बस्तियों, मज़दूर संगठनों के दफ़्तरों, छापाख़ानों आदि में ज़बरदस्त छापे डाले। सैकड़ों लोगों को मामूली शक पर पीटा गया और बुरी तरह टॉर्चर किया गया।

आठ मज़दूर नेताओं – **अल्बर्ट पार्सन्स, आगस्टस स्पाइस, जार्ज एंजेल, एडाल्फ़ फ़िशर, सैमुअल फ़ील्डेन, माइकेल श्वाब, लुइस लिंग** और **आस्कर नीबे** पर मुक़दमा चलाकर उन्हें हत्या का मुजरिम क़रार दिया गया।

पूँजीवादी न्याय के लम्बे नाटक के बाद 20 अगस्त 1887 को शिकागो की अदालत ने अपना फ़ैसला दिया। सात लोगों को सज़ाए-मौत और एक (नीबे) को पन्द्रह साल क़ैद बामशक्कत की सज़ा दी गयी। **स्पाइस** ने अदालत में चिल्लाकर कहा था कि **"अगर तुम सोचते हो कि हमें फाँसी पर लटकाकर तुम मज़दूर आन्दोलन को... ग़रीबी और बदहाली में कमरतोड़ मेहनत करनेवाले लाखों लोगों के आन्दोलन को कुचल डालोगे, अगर यही तुम्हारी राय है – तो ख़ुशी से हमें फाँसी दे दो। लेकिन याद रखो ... आज तुम एक चिंगारी को कुचल रहे हो लेकिन यहाँ-वहाँ, तुम्हारे पीछे, तुम्हारे सामने, हर ओर लपटें भड़क उठेंगी। यह जंगल की आग है। तुम इसे कभी भी बुझा नहीं पाओगे।"**

सारे अमेरिका और तमाम दूसरे देशों में इस क्रूर फ़ैसले के ख़िलाफ़ भड़क उठे जनता के गुस्से के दबाव में अमेरिका के सुप्रीम कोर्ट ने पहले तो अपील मानने से इन्कार कर दिया लेकिन बाद में इलिनाय प्रान्त के गर्वनर ने फ़ील्डेन और श्वाब की सज़ा को आजीवन कारावास में बदल दिया। 10 नवम्बर 1887 को सबसे कम उम्र के नेता लुइस लिंग ने कालकोठरी में आत्महत्या कर ली।

काला शुक्रवार

अगला दिन (11 नवम्बर 1887) मज़दूर वर्ग के इतिहास में काला शुक्रवार था। **पार्सन्स, स्पाइस, एंजेल** और **फ़िशर** को शिकागो की कुक काउण्टी जेल में फाँसी दे दी गयी। अफ़सरों ने मज़दूर नेताओं की मौत का तमाशा देखने के लिए शिकागो के दो सौ अमीरों को बुला रखा था। लेकिन मज़दूरों को डर से काँपता हुए देखने की उनकी तमन्ना धरी की धरी रह गयी। वहाँ मौजूद एक पत्रकार ने बाद में लिखा : "चारों मज़दूर नेता क्रान्तिकारी गीत गाते हुए फाँसी के तख़्ते तक पहुँचे और शान के साथ अपनी-अपनी जगह पर खड़े हो हुए। फाँसी के फन्दे उनके गलों में डाल दिये गये। स्पाइस का फन्दा ज़्यादा सख़्त था, फ़िशर ने जब उसे ठीक किया तो स्पाइस ने मुस्कुराकर धन्यवाद कहा। फिर स्पाइस ने चीख़कर कहा, **'एक समय आयेगा जब हमारी ख़ामोशी उन आवाज़ों से ज़्यादा ताक़तवर होगी जिन्हें तुम आज दबा डाल रहे हो...'** फिर पार्सन्स ने बोलना शुरू किया, **'मेरी बात सुनो... अमेरिका के लोगो! मेरी बात सुनो... जनता की आवाज़ को दबाया नहीं जा सकेगा...'** लेकिन इसी समय तख़्ता खींच लिया गया।"

13 नवम्बर को चारों मज़दूर नेताओं की शवयात्रा शिकागो के मज़दूरों की एक विशाल रैली में बदल गयी। छह लाख से भी ज़्यादा लोग इन नायकों को आख़िरी सलाम देने के लिए सड़कों पर उमड़ पड़े।

तब से आज तक 124 साल गुज़र गये हैं। इस दौरान मज़दूर वर्ग चुप नहीं बैठा है। अपने हक़ के लिए अनगिनत संघर्षों में लाखों मज़दूरों ने ख़ून बहाया है। फाँसी के तख़्ते से गूँजती स्पाइस की पुकार पूँजीपतियों के दिलों में आज भी ख़ौफ़ पैदा कर रही है। मई दिवस के बहादुर शहीदों की क़ुर्बानी और अपने साथियों के ख़ून की आभा से चमकता लाल झण्डा आज भी मज़दूरों को आगे बढ़ने के लिए प्रेरित कर रहा है।

इस मई दिवस के मौक़े पर हम बिगुल के पाठकों के लिए प्रसिद्ध लेखक **हावर्ड फ़ास्ट** के उपन्यास **'द अमेरिकन'** का एक हिस्सा पेश कर रहे हैं। इस हिस्से में शिकागो के शहीदों की अन्तिम यात्रा का वर्णन किया गया है।

– सम्पादक

शहीद मज़दूर नेताओं को अन्तिम सलामी देने के लिए देश भर के मज़दूर उमड़ पड़े

उन्हें शुक्रवार को फाँसी दी गयी। अगले दिन अख़बारों में फाँसी के विस्तृत ब्योरे और ढेरों सम्पादकीय छपे थे – मरने वाले व्यक्तियों पर, क़ानून और व्यवस्था पर, जनतन्त्र पर, संविधान और इसके ढेरों संशोधनों पर – जिनमें से कुछ को 'बिल ऑफ़ राइट्स' कहा जाता है – क्रान्ति, गणतन्त्र के संस्थापकों और गृहयुद्ध के बारे में। इसी के साथ छपी थीं अन्त्येष्टि की सूचनाएँ। शहर के अधिकारियों ने पाँचों मृत व्यक्तियों – लिंग, जो अपनी कोठरी में मर गया था, पार्सन्स, स्पाइस, फ़िशर और एंजिल के सम्बन्धियों और मित्रों को उनके शरीर प्राप्त कर लेने की अनुमति दे दी थी। ये मित्र और सम्बन्धी यदि चाहें तो उन्हें सार्वजनिक अन्त्येष्टि करने की भी इजाज़त थी। मेयर रोश ने घोषणा कर दी थी कि वाइल्डहाइम क़ब्रगाह जाते हुए मातमी जुलूस किन-किन सड़कों से गुज़र सकता था। यह सब बारह से दो के बीच होना था। सिर्फ़ मातमी संगीत बज सकता था। हथियार नहीं ले जाये जा सकते थे, झण्डे और बैनर लेकर चलना मना था। अख़बारों के मुताबिक़ हालाँकि ये लोग समाज के घोषित दुश्मन थे, अपराधी और हत्यारे थे, फिर भी हो सकता था कि अन्त्येष्टि में शामिल होने के लिए कुछ सौ लोग चले आयें। और संविधान के उस हिस्से के मुताबिक़, जो धार्मिक स्वतन्त्रता की गारण्टी देता है, इस अन्त्येष्टि की इजाज़त देना न्यायसंगत ही था।

इतवार को जज ने पत्नी से कहा कि वह बाहर टहलने जा रहा है। हालाँकि एम्मा को शक था कि वह टहलते हुए कहाँ जायेगा पर वह कुछ बोली नहीं। न ही उसने यह कहा कि इतवार की सुबह उसके अकेले बाहर जाने की इच्छा कुछ अजीब थी। लेकिन दरअसल, यह कोई ताज्जुब की बात नहीं थी, जुलूस के रास्ते की ओर जाते हुए जज ने महसूस किया कि वह तो हज़ारों-हज़ार शिकागोवासियों में से बस एक है। और फिर ऐसा लगने लगा मानो क़रीब-क़रीब आधा शहर शिकागो की उदास, गन्दी सड़कों के दोनों ओर खड़ा जुलूस का इन्तज़ार कर रहा है।

सुबह ठण्डी थी और वह यह भी नहीं चाहता था कि लोग उसे पहचानें। इसलिए उसने कोट के कॉलर उठा लिये और हैट को माथे पर नीचे खींच लिया। उसने हाथ जेबों में ठूँस लिये और शरीर का बोझ कभी एक ठिठुरे हुए पैर तो कभी दूसरे पर डालता हुआ इन्तज़ार करने लगा।

जुलूस दिखायी पड़ा। यह वैसा नहीं था जिसकी उम्मीद थी। वैसा तो क़तई नहीं था जैसी उम्मीद करके शहर के अधिकारियों ने इजाज़त दी थी। कोई संगीत नहीं था, सिवाय हल्के पदचापों और औरतों की धीमी सिसकियों के, और बाक़ी सारी आवाज़ें, सारे शोर जैसे इनमें डूब गये थे। जैसे सारे शहर को ख़ामोशी के एक विशाल और शोकपूर्ण कफ़न ने ढँक लिया हो।

पहले झण्डा लिये हुए एक आदमी आया, जुलूस का एकमात्र झण्डा, एक पुराना रंग उड़ा हुआ सितारों और पट्टियोंवाला झण्डा जो गृहयुद्ध के दौरान गर्व के साथ एक रेजीमेण्ट के आगे चलता था। उसे लेकर चलने वाला गृहयुद्ध में लड़ा एक सिपाही था, एक अधेड़ उम्र का आदमी जिसका चेहरा ऐसा लग रहा था मानो पत्थर का गढ़ा हो।

फिर आयीं अर्थियाँ और ताबूत। फिर पुरानी, खुली हुई घोड़ागाड़ियाँ आयीं, जिनमें परिवारों के लोग थे। उनमें से एक में आल्टगेल्ड ने लूसी पार्सन्स को देखा, वह अपने दोनों बच्चों के साथ बैठी थी और निगाहें सीधी सामने टिकी हुई थीं।

फिर आये मरने वालों के अभिन्न दोस्त, उनके कॉमरेड। वे चार-चार की क़तार में चल रहे थे, उनके चेहरे भी उदास थे, जैसे गृहयुद्ध के सिपाही का चेहरा था।

फिर अच्छे कपड़ों में पुरुषों और स्त्रियों का एक समूह आया। उनमें से कइयों को आल्टगेल्ड जानता और पहचानता था, वकील, जज, डॉक्टर, शिक्षक, छोटे व्यापारी और बहुत-से दूसरे लोग जो इन पाँचों मरने वालों को बचाने की लड़ाई में शामिल थे।

फिर आये मज़दूर जिनकी कोई सीमा ही नहीं थी। वे आये थे पैकिंग करने वाली कम्पनियों से, लकड़ी के कारख़ानों से, मैकार्मिक और पुलमैन कारख़ानों से। वे आये थे मिलों से, खाद की खत्तियों से, रेलवे यार्डों से और कनस्तर गोदामों से। वे आये थे उन सरायों से जिनमें बेरोज़गार रहते थे, सड़कों से, गेहूँ के खेतों से, शिकागो और एक दर्जन दूसरे शहरों की गलियों से। बहुत-से अपने सबसे अच्छे कपड़े पहने हुए थे, अपना एकमात्र काला सूट जिसे पहनकर उनकी शादी हुई थी। बहुतों के साथ उनकी पत्नियाँ भी थीं, बच्चे भी उनके साथ चल रहे थे। कुछ ने बच्चों को गोद में उठा रखा था। लेकिन बहुतेरे ऐसे भी थे जिनके पास काम के कपड़ों के सिवा कोई कपड़े नहीं थे। वे अपनी पूरी वर्दी और नीली जींस और फलालैन की कमीज़ें पहने हुए थे। चरवाहे भी थे जो पाँच सौ मील से अपने घोड़ों पर यह सोचकर आये थे कि शिकागो में इन लोगों की सज़ा माफ़ करायी जा सकती है क्योंकि यहाँ के लोगों में विश्वास और इच्छाशक्ति है। लेकिन जब इसे नहीं रोका जा सका तो वे अर्थी के साथ चलने के लिए रुक गये थे। वे अपने बेढंगे ऊँची एड़ियों वाले जूते पहने हुए चल रहे थे। उनमें शहर के आसपास के देहातों के लाल चेहरों वाले किसान थे, इंजन ड्राइवर थे और विशाल झीलों से आये नाविक थे।

सैकड़ों पुलिसवाले और पिंकरटन के आदमी सड़क के दोनों ओर खड़े थे। लेकिन जब उन्होंने जुलूस को देखा तो वे चुपचाप खड़े हो गये, उन्होंने बन्दूकें रख दीं और निगाहें ज़मीन पर टिका लीं।

क्योंकि मज़दूर शान्त थे। सुनायी पड़ती थीं तो सिर्फ़ उनकी साँसें और चलते हुए क़दमों की आवाज़। एक भी शब्द नहीं सुनायी देता था। कोई बोल नहीं रहा था। न मर्द, न औरतें, बच्चे तक नहीं। सड़क के किनारे खड़े लोग भी ख़ामोश थे।

और अभी भी मज़दूर आते ही जा रहे थे। आल्टगेल्ड एक घण्टे तक खड़ा रहा, पर वे आते ही रहे। कन्धे से कन्धे मिलाये, चेहरे पत्थर जैसे, आँखों से धीरे-धीरे आँसू बह रहे थे जिन्हें कोई पोंछ नहीं रहा था। एक और घण्टा बीता, फिर भी उनका अन्त नहीं था। कितने हज़ार जा चुके थे, कितने हज़ार और आने बाक़ी थे, वह अन्दाज़ नहीं लगा सकता था। पर एक चीज़ वह जानता था, इस देश के इतिहास में ऐसी कोई अन्त्येष्टि पहले कभी नहीं हुई थी, सबसे ज़्यादा प्यारा नेता अब्राहम लिंकन जब मरा था, तब भी नहीं।

(शिकागो पुलिस के मुताबिक़ शहीद मज़दूर नेताओं के मातमी जुलूस में 6 लाख से ज़्यादा लोग शामिल हुए थे।)

पंजीयन संख्या	डाक पंजीयन संख्या	प्रेषक डाकघर -	प्रेषण तिथि -
71980/99	SSP/LW-NP/399/2009-11	महानगर	माह की 13, 14, 15 तारीख़

लुधियाना के मज़दूर आन्दोलन में माकपा–सीटू के मज़दूर विरोधी कारनामे

संघर्षशील मज़दूर साथियों को समझौतापरस्त, भ्रष्ट और दलाल नेतृत्व से पीछा छुड़ाकर मज़दूर आन्दोलन में आये गतिरोध को तोड़ना होगा

भारत के मज़दूर आन्दोलन पर ज़रा सी भी ईमानदार नज़र रखने वाले लोगों के लिए आज यह बात दिन के उजाले की तरह साफ़ है कि सी.पी.आई.एम. (माकपा) और उसका मज़दूर विंग सी.आई.टी.यू. (सीटू) किस क़दर खुलकर पूँजीपतियों की सेवा में लगे हुए हैं। ज़्यादा दूर जाने की ज़रूरत नहीं है, बस पिछले 8–10 वर्षों की इनकी कारगुज़ारियों पर नज़र डाल ली जाये तो कोई शक नहीं रह जाता कि माकपा–सीटू के झण्डे का लाल रंग नक़ली है और ये मज़दूरों की पीठ में छुरा घोंपने का ही काम कर रहे हैं। देश में जहाँ–जहाँ भी इनका ज़ोर चला, इन्होंने बड़ी चालाकी के साथ मज़दूर आन्दोलन का बेड़ा गर्क करने में किसी तरह की कोई कसर बाक़ी नहीं छोड़ी।

लुधियाना के मज़दूर आन्दोलन में माकपा–सीटू ने जो समझौतापरस्त, दलाल, भ्रष्ट, पूँजीपतिपरस्त और घोर मज़दूर विरोधी भूमिका अदा की है, उसकी चर्चा से पहले हम लुधियाना के मज़दूर आन्दोलन के आगे बढ़ने की ज़बरदस्त सम्भावनाओं के बारे में कुछ बातें करेंगे।

लुधियाना देश के बड़े ओद्योगिक शहरों में से एक है। पिछले कुछ वर्षों में यहाँ के मज़दूर अपने बुनियादी हक़ों के लिए लड़ते रहे हैं। लुधियाना के बड़े कारख़ानों जैसे हीरो साइकिल, रॉकमैन, एवन, रॉलसन, हाईवे, गरेटवे, बजाज संस के हज़ारों–हज़ार मज़दूरों का संघर्ष; 2008 में हिन्दुस्तान टायर्ज़ काण्ड के बाद लुधियाना के दसियों हज़ार मज़दूरों द्वारा कारख़ाना मालिकों, पुलिस–प्रशासन के ख़िलाफ़ जुझारू संघर्ष; दिसम्बर 2009 में ढण्डारी काण्ड के समय सरकार, पुलिस–प्रशासन, गुण्डा गिरोहों के ख़िलाफ़ लुधियाना की सड़कों पर फूटा दसियों हज़ार मज़दूरों के ग़ुस्से का लावा; अभी हाल में पोद्दार टायर्ज़ लिमिटेड के हज़ारों मज़दूरों द्वारा अपने एक मज़दूर साथी के कारख़ाने से सन्दिग्ध रूप से ग़ायब हो जाने के बाद सड़कों पर उतर आना – ये कुछेक उदाहरण ही यह समझने के लिए काफ़ी हैं कि आज लुधियाना की मज़दूर आबादी में पूँजीपतियों, उनकी सरकार, पुलिस–प्रशासन, गुण्डा गिरोहों के ख़िलाफ़ कितनी नफ़रत, बेचैनी और विद्रोह की भावना है। इसी के परिणामस्वरूप लुधियाना के मज़दूरों का ग़ुस्सा कभी योजनाबद्ध–संगठित रूप में तो कभी स्वत:स्फूर्त–असंगठित रूप में फूटता ही रहता है। ऐसा यूँ ही नहीं है कि लुधियाना के औद्योगिक क्षेत्र में हमेशा धारा 144 लगी रहती है। यानी वहाँ कभी भी चार लोगों को इकट्ठा खड़े होने की इजाज़त नहीं है। अब लुधियाना में पंजाब सरकार ने पुलिस कमिश्नर प्रणाली लागू कर दी है।

लेकिन लुधियाना का मज़दूर आन्दोलन ख़ुद–ब–ख़ुद सही दिशा पकड़ लेगा, ऐसा सोचना ग़लत होगा। जोश, साहस, कुर्बानी की भावना से लबरेज़ और पूँजीपतियों और उनकी सरकार के ख़िलाफ़ आर–पार के संघर्ष की तमन्ना रखने वाली लुधियाना की मज़दूर आाबादी को अगर क्रान्तिकारी नेतृत्व नहीं हासिल होता और उसे योजनाबद्ध ढंग से संगठित नहीं किया जाता, तो लुधियाना का मज़दूर आन्दोलन ऐसे ही बिना किसी तैयारी के, बिना किसी नेतृत्व के, बिना किसी योजना के स्वत:स्फूर्त संघर्षों की भूलभुलैया में चक्कर लगाता रहेगा, और कभी सही दिशा नहीं हासिल कर सकेगा या फिर अपना रूप बदल–बदलकर, झण्डे बदल–बदलकर और नारे बदल–बदलकर पूँजीवादी नेता, पार्टियाँ, संगठन व दलाल यूनियनों वाले मज़दूरों को अपने संकीर्ण हितों के लिए इस्तेमाल करते रहेंगे।

लुधियाना के मज़दूर आन्दोलन की इन विस्फोटक परिस्थितियों से पैदा हुए मज़दूरों के संघर्षों के जुझारूपन की हवा निकालने में माकपा–सीटू वाले पूरा ज़ोर लगाते रहे हैं। अपनी इन घिनौनी हरक़तों में वे एक हद तक कामयाब भी हुए हैं। इस तरह वे नक़ली लाल झण्डा उठाये लुधियाना के मज़दूर आन्दोलन में भितरघात का अपना काम बख़ूबी करते रहे हैं और कर रहे हैं।

पिछले समय में 2004 से लुधियाना के हीरो साइकिल, रॉकमैन, के.डब्ल्यू, एवन, रॉलसन, हाईवे, बजाज संस, मूनलाइट आदि बड़े कारख़ानों में चले मज़दूरों के संघर्ष में माकपा–सीटू का समझौतापरस्त, दलाल, भ्रष्ट, क़ायर, पूँजीपतिपरस्त चरित्र बहुत खुलकर सामने आया है। उन्होंने मज़दूरों के संघर्षों को भारी क्षति पहुँचायी और मज़दूरों में निराशा फैलायी। हम संक्षेप में यहाँ उन तरीक़ों की चर्चा ज़रूर करेंगे जिनके ज़रिये इन भितरघातियों ने मज़दूरों के संघर्षों की धार को कुन्द किया और कारख़ाना मालिकों को फ़ायदा पहुँचाया।

जब केन्द्र में माकपा सरकार को समर्थन दे रही थी, तो कारख़ाना मालिकों के ख़िलाफ़ अपने संघर्षों में मज़दूर यह सोचकर कि माकपा अब सत्ता में है, इसके पास अपने आन्दोलन के लिए नेतृत्व लेने गये। सभी के सभी कारख़ानों के आन्दोलनों में माकपा–सीटू ने मज़दूरों को जुझारू संघर्ष करने से रोकने के लिए अपना पूरा ज़ोर लगा दिया। सभी कारख़ानों के संघर्षों में मज़दूरों की जुझारू पहलक़दमी को दबाया गया। धरने कारख़ाना गेटों की बजाय गेट से दूर, माकपा–सीटू के दफ़्तर या पार्कों आदि में लगते रहे। मज़दूरों को अदालती केसों के ज़रिये मसले हल करने का भरोसा दिलाया जाता रहा। एक कारख़ाना के मज़दूरों को दूसरे कारख़ाना के मज़दूरों का सहयोग लेने से रोकने के लिए माकपा–सीटू वालों ने भरसक ज़ोर लगाया। इसमें वे काफ़ी हद तक कामयाब भी रहे।

आज जिस तरह कारख़ाना मालिक, सरकार, पुलिस–प्रशासन की एक चौकड़ी हो गयी है, उससे साफ़ कि जब तक लुधियाना के विभिन्न कारख़ानों के मज़दूरों में आपसी तालमेल नहीं बनता, जब तक वे एकजुट होकर कारख़ाना मालिकों के बर्बर राज पर धावा नहीं बोलते, तब तक असल कामयाबी हासिल नहीं की जा सकती।

सीटू–माकपा के नेतृत्व में मालिकों के साथ होने वाले फ़ैसलों में भी तरीक़ा एकदम ग़ैरजनवादी रहता है। सीटू–माकपा के एक–दो नेता मालिकों के साथ समझौता कर लेते रहे, जो मज़दूरों पर थोप दिया जाता रहा। कभी–कभी कुछ मज़दूर भी साथ ले लिये जाते, लेकिन बहुसंख्यक मज़दूरों की राय लिये बिना, फ़ैसलों में उनकी भागीदारी के बिना ही समझौते मज़दूरों पर थोप दिये गये। बातचीत की जगह आदि तय करने के लिए मालिकों की पसन्द का ख़ास ध्यान रखा जाता रहा। फ़ैसले या तो मैनेजमेण्ट टेबल पर या फिर होटलों में होते रहे। एवन में हुआ समझौता तो सबसे बदनाम समझौतों के सारे रिकॉर्ड ही तोड़ गया, जब हड़ताल करके मालिक का नुक़सान करने के तथाकथित जुर्म के रूप में मज़दूरों से आठ दिन तक बिना वेतन के काम करवाने का समझौता माकपा–सीटू के नेताओं ने मालिकों से किया। यह फ़ैसला मज़दूरों पर ज़बरदस्ती थोप दिया गया।

आज भी लुधियाना हीरो साइकिल प्राइवेट लिमिटेड और बजाज संस में बनी यूनियनों की पीठ पर माकपा–सीटू के नेता सवार हैं। दोनों ही कारख़ानों में मज़दूर अपने अधिकारों के लिए मालिकों के ख़िलाफ़ संघर्ष को आगे बढ़ाने के लिए छटपटा रहे हैं। लेकिन माकपा–सीटू वाले उन्हें अपनी चालाकियों से बुरी तरह उलझाये हुए हैं और जुझारू आन्दोलन की राह में रुकावट बने हुए हैं। दोनों ही कारख़ानों में आज मज़दूर माकपा–सीटू की समझौतापरस्त, दलाल और क़ायर नेतागिरी से लगभग परिचित हो चुके हैं, लेकिन वे सोचते हैं कि इनसे टूटकर आख़िर जायेंगे कहाँ? वे माकपा–सीटू के नेताओं के मुँह पर भी गालियाँ देते हैं, लेकिन उनसे पीछा छुड़ाकर कहीं और जाने का रास्ता भी इन मज़दूर साथियों को दिखायी नहीं दे रहा।

हीरो साइकिल में मज़दूरों का 'लाल झण्डा हीरो साइकिल मज़दूर यूनियन' के नाम से संगठन बना हुआ है। मज़दूरों ने बर्बर कारख़ाना मालिकों के ख़िलाफ़ बहुत ही शानदार जोश, साहस और एकजुटता का प्रदर्शन किया था। इसी के फलस्वरूप कारख़ाने में आठ घण्टे दिहाड़ी लागू हुई; मालिक–मैनेजमेण्ट द्वारा की जाने वाली धक्काजोरी, अपमान, मारपीट, गाली–गलौच बन्द हुई। अगर माकपा–सीटू का ज़ोर चलता तो वे हीरो साइकिल के मज़दूरों के संघर्ष की धार को इस क़दर कुन्द कर देते कि उन्हें ये अधिकार भी न मिलते। आज लाल झण्डा हीरो साइकिल मज़दूर यूनियन के मज़दूर साथियों में इन भितरघातियों की वज़ह से स्थिति बेहद निराशाजनक बनी हुई है। कुशलता के अनुसार वेतन बढ़ोत्तरी, महँगाई भत्ता, बोनस, मकान किराया, कारख़ाने से निकाले गये संघर्षशील मज़दूर साथियों के ख़िलाफ़ दर्ज झूठे पुलिस केस वापस लेने, उन्हें काम पर वापस लेने आदि माँगों पर हीरो साइकिल के मज़दूरों का संघर्ष आगे नहीं बढ़ाया गया।

मज़दूरों को माकपा–सीटू के चालाक नेताओं ने बड़ी होशियारी से क़ानूनी लफ़्फ़ाज़ी में उलझाया हुआ है। शुरू से ही माकपा–सीटू के नेताओं ने पैसे के हिसाब–किताब में व्यवस्था और पारदर्शिता लाने के बारे में कुछ नहीं किया। इस बारे में वे चालाकी भरे बहाने बनाते रहे। यूनियन के पैसे के हिसाब–किताब में शुरू से होती आ रही घपलेबाज़ी का मामला सब मज़दूरों के सामने है। हीरो साइकिल मज़दूरों का कहना है कि संघर्ष की जीत के नाम पर माकपा–सीटू ने उनके हाथ में यूनियन रजिस्ट्रेशन का झुनझुना पकड़ा दिया है। जब मज़दूरों को उनके अधिकार ही हासिल नहीं होने तो इस रजिस्ट्रेशन का क्या फ़ायदा है?

बजाज संस के संघर्ष का तो माकपा–सीटू वालों ने और भी बुरा हाल किया है। बजाज संस के कुछ मज़दूर साथियों ने उनका नाम ना छापे जाने की शर्त पर बिगुल मज़दूर दस्ता को एक पत्र के ज़रिये सीटू–माकपा के कॉमरेडों के ख़िलाफ़ ग़ुस्सा कुछ इस तरह से ज़ाहिर किया –

बजाज संस का मालिक तीन साल से तरक्की मज़दूरों को नहीं दे रहा है। और जब वर्कर अपने सीटू नेता के पास जाते हैं तरक्की के लिए तो वे बोलते हैं कि तरक्की की बात क़ानून में नहीं लिखी है।

आज बजाज संस में सीटू की यूनियन लगे पाँच वर्ष से ऊपर हो गये हैं जबकि यहाँ यूनियन का रजिस्ट्रेशन नहीं हुआ। इस बात को हर बार श्रमिक सीटू नेताओं के पास उठाते हैं। रजिस्ट्रेशन के लिए तो वे बोलते हैं कि कागज अप्लाई हुआ है। कभी कहते हैं डिमांड नोटिस वापस आ गया है। और रजिस्ट्रेशन कराने के नाम पर कितनी बार सौ–सौ रुपये प्रत्येक वर्कर से फ़ण्ड ले चुके हैं। और वर्करों को अँधेरे में रखते हैं।

यहाँ तक कि मज़दूरों के प्रधान बलराम सिंह पर जानलेवा हमले के बाद भी सीटू नेताओं ने मैनेजमेण्ट के ऊपर कोई क़ानूनी कार्रवाई तक न करके आपस में समझौता कर लिया। और मज़दूरों को बताया तक नहीं। ...

आज भी श्रमिकों के ऊपर बहुत धक्केशाहियाँ हो रही हैं। अभी हाल में ही सी–94 में वर्कर और स्टाफ में कहा–सुनी हुआ। और स्टाफ वालों ने श्रमिक को पीटा और कम्पनी ने श्रमिकों को बाहर निकाल फेंक दिया और स्टाफ को रख लिया। इसमें सीटू के नेताओं ने कोई फ़ैसला नहीं लिया।

आज यूनियन लगे पाँच वर्ष से ऊपर हो गया। लेकिन श्रमिकों को न ही वर्दी मिला, न ही हाउस एलाउंस मिला। न डीए मिला, न ही बोनस में बढ़ोत्तरी हुआ। न छुट्टी के पैसे में बढ़ोत्तरी हुआ। यहाँ तक कि बढ़ोत्तरी तो दूर की बात है जो छुट्टी का पैसा मिला है, वो पहले से भी कम पैसा मिला है। और इन नेता लोगों का कहना है कि जो मिला है, वो ठीक है।

श्रमिकों का जब भी पैसा बढ़ा उससे बहुत ही ज़्यादा सीटू वालों ने प्रोडक्शन बढ़वा दिये। और आठ घण्टे काम करने के लिए कुर्बानी देने वाले कितने अपने महान नेताओं को वर्करों ने खो दिया था, लेकिन आज हालात ऐसे हैं कि आज के दलाल नेताओं ने ख़ुद ही वर्करों से 12 घण्टे, 16 घण्टे, 20 घण्टे काम के करवा दिये हैं। और छुट्टी के दिन भी ओवरटाइम ये कम्पनियों में चलवाते हैं। और वर्करों के विरोध करने पर सीटू नेता कहते हैं जो मर्जी वो करो लेकिन हमारी कोई ज़िम्मेदारी नहीं है।

श्रमिकों के अन्दर के प्रधान लालेश्वर को जब कम्पनी के गुण्डों ने कम्पनी के अन्दर ही बहुत बुरी तरह पीटा तो सीटू नेताओं ने मज़दूरों को चुप रहने के लिए मज़बूर किया और कहा कि क़ानूनी कार्रवाई होगा। इस पर उन्होंने कोई संघर्ष नहीं होने दिया। इन सीटू वालों ने हमारे साथ बहुत धोखा किया है।

बजाज संस के मज़दूर साथियों का यह पत्र इस बात की पुष्टि करता है कि माकपा–सीटू मालिक–भक्ति में बहुत गहरे उतर चुकी है। उनसे मज़दूर हित की उम्मीद करना बेकार ही नहीं बल्कि मूर्खता भी है।

किसी भी चुनावी पार्टी की तरह माकपा के नेताओं का मकसद भी जनता का भला करना नहीं बल्कि जनता को मूर्ख बनाकर कुर्सियाँ हासिल करना है। माकपा का मज़दूर विंग सीटू मज़दूरों में उसका वोट बैंक बनाने का एक ज़रिया है। माकपा यह दावा करती है कि वह देश में क्रान्ति के लिए लड़ रही है, लेकिन जैसाकि उसका सारा इतिहास बताता है कि उसने आज तक पूँजीपतियों की ही सेवा की है। चुनाव पूँजीपतियों से लिये गये चन्दों से ही लड़े और जीते जा सकते हैं, इसलिए माकपा वास्तव में कभी पूँजीपतियों के ख़िलाफ़ नहीं जायेगी।

भले ही माकपा और सीटू ने अपने विश्वासघात, समझौतापरस्ती और दलाली से लुधियाना के मज़दूर आन्दोलन में हार, पस्ती, निराशा का माहौल बनाने की कोशिश की है और उसमें वे सफल भी हुए हैं, लेकिन ऐसा कभी नहीं हो सकता कि मज़दूर संघर्ष का रास्ता ही छोड़ देंगे।

हमें पूरा यक़ीन है कि मज़दूरों के दिलों में शोषण, लूट, दमन, अन्याय के ख़िलाफ़ उठ खड़े होने का साहस कभी मर नहीं सकता। आज भले ही लुधियाना के बड़े कारख़ानों के संघर्षशील मज़दूरों की पहलक़दमी और जोश पर माकपा–सीटू के कारण निराशा छायी हो, लेकिन यह भी निश्चित है कि संघर्ष फिर अंगड़ाई लेगा। लेकिन यह संघर्ष तभी सही दिशा में पूरे जोशो–ख़रोश, पूरे जुझारूपन और साहस के साथ आगे बढ़ सकता है जब मज़दूर आन्दोलन से इन भितरघातियों को उठाकर बाहर फेंक दिया जायेगा।

– लखविन्दर

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी डॉ. दूधनाथ द्वारा 69, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा वाणी ग्राफिक्स, अलीगंज, लखनऊ से मुद्रित। कम्पोजिंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फ़ाउण्डेशन, लखनऊ।
सम्पादक : **डॉ. दूधनाथ, सुखविन्दर** • सम्पादकीय पता : **69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ**–226 006 • सम्पादकीय उपकार्यालय : जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ